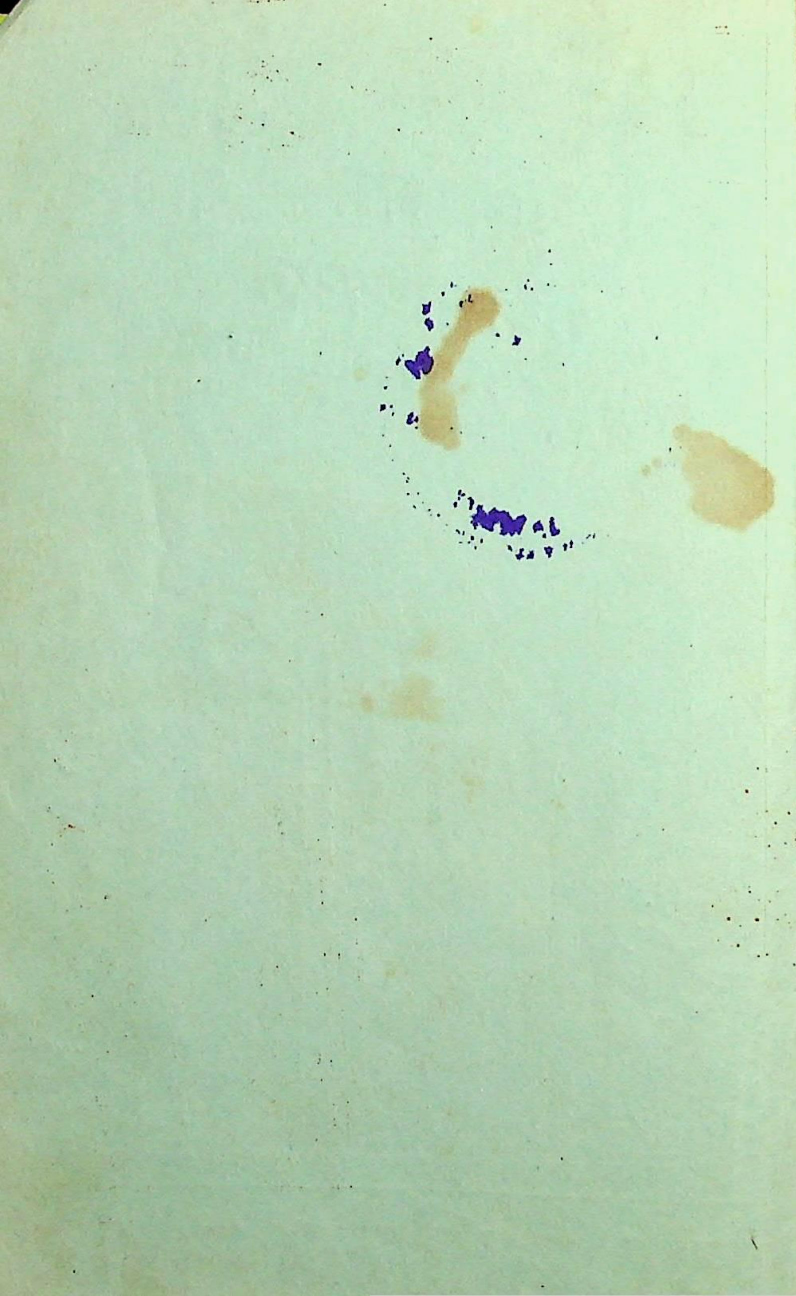
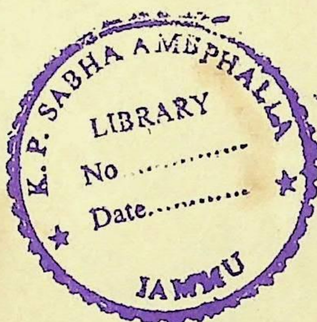
प्रेमाश्रम
एक अध्ययन
GUIDE To Premashram
Rs. 2/-

हिंदी साहित्य भंडार



प्रेमाश्रम : एक अध्ययन



लेखक

प्रेमनारायण टंडन, एम० ए०, साहित्यरत्न

रामखेलावन चौधरी, एम० ए०, एम० एड०

तृतीय संस्करण

Price Rs. 2/-

प्रकाशक
हिंदी साहित्य भंडार
गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ

प्रथम संस्करण : अक्टूबर १९५०
द्वितीय संस्करण : मई १९५१
तृतीय संस्करण : फरवरी १९६५
मूल्य : दो रुपया

मुद्रक
विद्यामंदिर प्रेस
रानीकटरा, लखनऊ

श्री कालिदास जी कपूर को

जिन्होंने प्रेमचंद जी की प्रशंसा
उनका प्रथम उपन्यास देखकर ही की थी
और जिनका 'प्रेमाश्रम का महत्व' शीर्षक लेख
इस पुस्तक में संकलित है

सादर-सविनय समर्पित

विषय-सूची

परिशिष्ट

———

प्रेमाश्रम : एक अध्ययन

कला की कसौटी पर

(क) प्रेमचंद और सामयिक समस्याएँ

सामयिक विषयों को लेकर उपन्यास लिखने से साहित्यरचना के साथ-साथ उन समस्याओं के विषय में लेखक को अपने विचार प्रकट करने का भी अवसर मिल जाता है। जनता में इनका जो सम्मान होता है उसके दो कारण हैं। एक, उनके पढ़ने से उसका मनोरंजन होता है। दूसरे, प्रचलित विषयों के सम्बन्ध में एक योग्य लेखक के विचार मालूम होते हैं और इस प्रकार उनके सम्बन्ध में अपना मत निर्धारित करने में सहायता मिलती है। इन उद्देश्यों की पूर्ति तभी होती है जब सामयिक विषयों को ऐसे प्रासंगिक ढंग से अपनाया जाय कि पाठकों का ध्यान उपन्यास के मूल कथानक की ओर से विचलित न हो। यह कार्य सरल नहीं है और लेखक के जरा-सा चूकने पर ही अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। हर्ष की बात है कि हमारे प्रेमचंदजी ने अपने उपन्यासों में इस बात का उचित ध्यान रखा है। सामयिक समस्याओं पर उन्होंने कभी कथोपकथन द्वारा और कभी सीधी-सादी या हास्य और व्यंग्यपूर्ण शैली में इस ढंग से विचार किया है कि पाठकों का जी नहीं ऊबता। हो सकता है कि दो-एक स्थल अपवादस्वरूप भी हों; परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा प्रायः उद्देश्य-विशेष से ही किया गया है।

प्रेमचंदजी का सबसे पहला उपन्यास 'सेवासदन' है। इसकी समस्या मुख्यतः सामाजिक है। स्थान-स्थान पर कुछ तो विषय की संबद्धता और कुछ उद्देश्य की अस्पष्टता के कारण धर्म की विवादग्रस्त बातों—धर्म के ठेकेदारों के पाखंड, धर्म में फैली हुई कुरीतियाँ, धर्म

के नाम पर किया जाने वाला अत्याचार आदि—पर भी विचारात्मक प्रकाश डाला गया है। बस, 'सेवासदन' में तत्कालीन सामयिक समस्याओं में सामाजिक और धार्मिक, इन्हीं दो को ही मुख्यतः अपनाया गया है। एक-दो स्थानों पर भाषा, साहित्य, शिक्षा आदि की तत्कालीन स्थिति के विषय में भी संकेत किया गया है; पर वह बहुत कुछ प्रासंगिक ही है; उसे हम मुख्य विषय से संबद्ध या उसके अंतर्गत नहीं मान सकते।

सन् १९१४ के योरपीय महासमर के साथ भारत में भी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए जोर शोर से प्रयत्न किया जाने लगा। साधारण जनता ने इस राजनीतिक आंदोलन को इतने महत्व की दृष्टि से नहीं देखा जितना इससे संबंध रखने वाली कृषक और ग्राम-समस्या के आंदोलन को। मूलतः दोनों आंदोलनों का लक्ष्य एक ही उद्देश्य की पूर्ति माना जा सकता है; किसानों की दशा सुधरने पर ही वे हमारे साथ रह सकते हैं और तभी स्वतंत्रता प्राप्ति-संबंधी उद्योग में, उनकी सम्मिलित शक्ति से—यह बात मैं अत्यंत संक्षेप में, बिना किसी प्रकार की व्याख्या किये ही, कह रहा हूँ—हमें अपने प्रयत्न में सफलता मिल सकती है। प्रथम राजनीतिक आंदोलन के लिए देश को विशेष रूप से तैयार होने की आवश्यकता थी और दूसरी ओर जनता से पूर्ण सहयोग की पूरी आशा। महात्मा गाँधी ने जो आरम्भ में किसानों की दशा सुधारने की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया, उसका मुख्य कारण यही जान पड़ता है।

'प्रेमाश्रम' की रचना के समय तक महात्मा गाँधी का यह आंदोलन आरम्भ हो चुका था, उसकी ख्याति भी हो चुकी थी और लोग उसका सम्मान भी करने लगे थे। अतः जब प्रेमचंदजी को अपने पाठकों के सामने—उन्हीं पाठकों के सामने जो अँगरेजी और बँगला के उपन्यासों की प्रशंसा करते न थकते थे, परंतु अपनी संकुचित दृष्टि और पक्षपात के कारण 'सेवासदन' को श्रेष्ठ समझते हुए भी उसकी श्रेष्ठता स्वीकार

करने में हिचकते थे—किसी ऐसी चीज के रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई जो उनका ध्यान आकृष्ट कर सके, जिसका वे सम्मान कर सकें और जिसे खरीदने के लिए वे सहर्ष पैसा खर्च करने को तैयार हो जायँ, तब उन्होंने उस 'प्रेमाश्रम' की रचना की जिसका मुख्य विषय तत्कालीन राजनीतिक समस्या से सम्बद्ध होते हुए भी सर्वथा स्वतंत्र है, सामयिक होते हुए भी भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए सर्वकालीन है। उपन्यास-कला की दृष्टि से यदि हम 'प्रेमाश्रम' की आलोचना करके उसका यथार्थ महत्व और उचित मूल्य निर्धारित करने का प्रयत्न न भी करें अथवा इस दृष्टिकोण से हिन्दी उपन्यासों में उसका निर्दिष्ट स्थान हम स्वीकारें ही न, तब भी उसका पठन-पाठन कम नहीं हो सकता। इसका एकमात्र कारण है उपन्यास का मुख्य विषय, उसमें वर्णित ग्रामसमस्या जिसके तत्कालीन प्रवर्तक थे महात्मा गाँधी। 'प्रेमाश्रम' जिस समय प्रकाशित हुआ था उस समय कुछ आलोचकों ने, दबी जबान से यह कहने का साहस किया था कि उसके मुख्य पात्र प्रेमशंकर के, इस समस्या से संबंध रखने वाले विचारों पर, महात्मा गाँधी के विचारों और नवीन आदर्शों की स्पष्ट छाप है। हम भी इससे सहमत हैं। बीच-बीच में प्रसंगानुसार शासन-प्रबंध और डाक्टरी, वकालत आदि व्यवसायों तथा यतीमखानों की वास्तविक स्थिति के संबंध में जो सुधारात्मक विचार प्रेमशंकर तथा उनके मित्रों के मुख से कहलाये गये हैं, उन्हें हम प्रेमचन्दजी के निजी विचारों का विवेचनात्मक प्रकटीकरण कह सकते हैं। कुछ सामाजिक और धार्मिक प्रसंगों का भी 'प्रेमाश्रम' के मूल और प्रधान विषय से संबंध था। 'सेवासदन' की इन समस्याओं को भी परिशिष्ट के रूप में 'प्रेमाश्रम' में गौण स्थान मिला है।

'प्रेमाश्रम' में ग्राम-समस्या के जिस पहलू का आकर्षक चित्र खींचा गया है, वह प्रारम्भिक ही है। किसानों की तत्कालीन दीन दशा, उन पर होने वाले अत्याचार और उसके कारण, अत्यंत संक्षेप में, केवल इन्हीं के विषय में मचंद जी ने अपने विचार रोचक ढंग से व्यक्त

किये हैं। यह विषय नया नहीं था; कई सौ वर्षों से भारतीय किसानों की ऐसी ही दशा रही थी। उपन्यास का महत्व इस बात में है कि उसमें सभी आवश्यक बातों को एकत्र करके, सुधार-संबंधी उपायों की ओर कलात्मक ढंग से संकेत किया गया है। वे उपाय विशेषत: पुराने ढंग के हैं और इनमें मुख्यत: जमींदारों को अपना नैतिक जीवन और आचरण सुधारने की आवश्यकता बताई गयी है। वैज्ञानिक उन्नति के वर्तमान युग में ये सुधार-प्रस्ताव आवश्यक होते हुए भी अपूर्ण हैं। अत: 'रंगभूमि' में प्रेमचंद जी ने ग्राम समस्या के उस पहलू की रोचक व्याख्या की जिसमें कृषि-संबंधी सुधार की ओर विशेष ध्यान न देकर औद्योगिक धंधों की उन्नति करने के लिए देश में कल-कारखानों की आवश्यकता बतायी गयी है। हो सकता है कि उन पाश्चात्य शीत-प्रधान देशों अथवा पहाड़ी स्थानों में इनसे लाभ हुआ हो जहाँ अनेक वैज्ञानिक आविष्कार हो चुके हैं; जहाँ खाद्य पदार्थों की उपज संतोष-जनक नहीं होती; परन्तु भारत के लिए यह बात ठीक नहीं। यहां के तो अधिकांश निवासियों का मुख्य उद्यम खेती करना ही है। यही कारण है कि 'रंगभूमि' में प्रेमचंदजी ने भारत के लिए कल-कारखानों की अनुपयुक्तता पर ही जोर दिया।

'प्रेमाश्रम' में शहरों के शासन के संबंध में संकेतमात्र किया गया है; 'रंगभूमि' में इस विषय की अपेक्षाकृत विस्तृत विवेचना है। 'गबन' के अंतिम पृष्ठों में 'प्रेमाश्रम' के ढंग से ही अदालतों की वर्तमान स्थिति के संबंध में थोड़ा-बहुत लिखा गया है जिसे आलोचकों ने अनुपयुक्त बताते हुए अयथार्थ कहा है। हमें भी इस वर्णन से संतोष नहीं। हाँ, 'कर्मभूमि' में उपन्यासकार ने 'रंगभूमि' के नागरिक शासन-संबंधी वर्णनों को जो विस्तार दिया है वह पूर्ण है और पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ भी।

इन उपन्यासों में अन्य सामयिक समस्याओं का जो वर्णन मिलता है वह बहुत साधारण है। कहा जा सकता है कि 'रंगभूमि' में देशी

रियासतों, 'गबन' में पुलिस के हथकंडों, और 'कर्मभूमि' में स्वतंत्रता-संबंधी आंदोलनों के विषय में जो कुछ कहा गया है वह विशेष महत्व का है। हमारी सम्मति में, प्रेमचन्द जी ने इनमें से केवल अंतिम की ओर थोड़ा ध्यान दिया है। 'रंगभूमि', 'गबन' और 'कर्मभूमि', तीनों उपन्यासों में इस आन्दोलन के संबंध में जो विचार प्रकट किये गये हैं उनका यदि संकलन किया जाय तो हमें इसका सच्चा इतिहास प्राप्त हो सकता है।

'कायाकल्प' का विषय इन सब उपन्यासों से भिन्न है। उसका मूल विषय, एक तरह से, एक है ही नहीं ; प्रसंगानुसार उसमें समाज, धर्म, राजनीति, राजमद, गार्हस्थ्य जीवन, सभी के विषय में कुछ न कुछ कहा गया है। हाँ, इसकी एक समस्या सामयिक और महत्त्वपूर्ण है। हिंदुओं और मुसलमानों में भिन्न धार्मिक आदर्शों के कारण जो पारस्परिक विरोध बढ़ता जा रहा था उसी की ओर इसमें एक स्थल पर संकेत किया गया है। इस विरोध का केवल एक ही दृश्य प्रेमचंद जी ने दिखाया है ; परंतु है वह बड़ा चमत्कारपूर्ण और शिक्षाप्रद, इसमें कोई संदेह नहीं।

प्रेमचंद जी का अंतिम उपन्यास 'गोदान' है। इसकी रचना हुए अभी पंद्रह-सोलह वर्ष ही हुए हैं अतः जिन-जिन समस्याओं को लेकर इसके कथानक का संगठन किया गया है वे आज भी ज्यों की त्यों सामयिक ही बनी हुई हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जिस पर इसमें विचार किया गया है, ग्राम-समस्या का है। 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि', दोनों में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रेमचंदजी पहले भी इस विषय पर भली भाँति प्रकाश डाल चुके थे। परंतु जिस प्रकार 'रंगभूमि' में 'प्रेमाश्रम' की वर्णित समस्या को छोड़कर, उसके विकसित रूप की विवेचना की गयी है; दूसरे शब्दों में, जैसे 'प्रेमाश्रम' में ग्राम-समस्या के पूर्वार्द्ध और 'रंगभूमि' में उत्तरार्द्ध पर प्रकाश डाला गया है, उसी प्रकार 'गोदान' में क्रमानुसार जैसा होना चाहिए था, 'रंगभूमि' की समस्या का

विकसित रूप नहीं मिलता; प्रत्युत 'गोदान' की समस्या 'प्रेमाश्रम' में वर्णित विषय के ही अधिक समीप है। विशेषता इसमें केवल इतनी ही है कि उपन्यासकार ने अपने इस अंतिम उपन्यास (गोदान) में यथावसर थोड़े परिवर्तन भी किये हैं। 'प्रेमाश्रम' की रचना के समय थोड़े ही व्यक्ति ग्राम-समस्या के प्रश्न पर विचार कर रहे थे; परन्तु वर्त्तमान समय में, इसके विपरीत, जनता, काँग्रेस और सरकार सभी इस विषय में सोद्देश्य रुचि ले रहे हैं। यही बात 'गोदान' में मिलती है। सामाजिक और धार्मिक रचनाओं के विषय में भी यही सत्य है। परिणामस्वरूप 'गोदान' में एक ओर तो ग्रामों की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थितियों की वर्तमान दशा का दिग्दर्शन कराया गया है और दूसरी ओर इससे निकटतम सम्बन्धित उन नागरिकों के आचार विचार, रहन-सहन वेश-भूषा और उद्देश्य-आदर्श का, जो नगरों में शान शौकत से रहते हैं, सुख से जीवन बिताते हैं और शहरों के पचासों आदमियों को अपना गुलाम समझते हैं। राजनीतिक शब्दावली में इन नागरिकों को पूंजीपतियों के नाम से पुकारा गया है। वर्त्तमान समय में इनका जो विरोध किया जा रहा है, उसके सम्बन्ध में प्रेमचन्दजी ने अधिक नहीं लिखा; परंतु उन्होंने यह अवश्य दिखा दिया कि सुधार करने की इच्छा रखने वाले अधिकांश पूंजीपति अपने शुभ प्रयत्न में किन-किन कारणों से असफल रहते हैं।

यह तो हुई पूंजीपतियों के आन्तरिक जीवन की बात। सामाजिक स्थिति के कारण उनकी विवशता और भी बढ़ गयी है। एक तो उन्हें समाज में अपनी नाक के लिए अपव्यय और अपनी मर्यादा बनाये रहने के लिए असंख्य प्राणियों पर अत्याचार करना पड़ता है और अपने अफसरों की निगाह में स्वामिभक्त बने रहने के लिए उनकी जैसी-तैसी आज्ञाओं का पालन; साथ ही पारिवारिक जीवन भी उनका सुखद नहीं है। पुत्र उनका सम्मान करने में हिचकते हैं, पुत्रियाँ उनका कहना मानने को तैयार नहीं होतीं; सगे संबंधी और नातेदार भी लूट-खसोट

में लगे रहते हैं। इन कठिनाइयों और विवशताओं के लिए तो हम उनके साथ सहानुभूति प्रकट करेंगे; परंतु जब वे अपने भौतिक सुखों की लालसा से—'गोदान' में हम यही देखते हैं—अपनी सती साध्वी स्त्री का अपमान करते हैं, अथवा निर्धन-निरीह किसानों की पसीने की कमाई निर्दयता के साथ वसूल करके पानी की तरह वेदर्दी से बहाते हैं, तब हमें सन्तोष नहीं होता। पूँजीपतियों का जो विरोध आज हो रहा है, प्रेमचन्दजी ने भी उसका यही कारण बताया है; यहाँ तक कि हड़ताल की तरफ संकेत करना भी वे नहीं भूले हैं।

'गोदान' की दूसरी महत्वपूर्ण और नई समस्या स्त्री-शिक्षा और उनका स्वतन्त्रता-सम्बन्धी आन्दोलन है। इस उपन्यास में जिन-जिन आधुनिक समस्याओं की विवेचना अथवा व्याख्या की गयी है उनमें यही सबसे प्रधान है। इस सम्बन्ध में प्रेमचन्दजी ने अपने एक विद्वान और योग्य प्रोफेसर द्वारा एक व्याख्यान भी दिलाया है। इस आन्दोलन के विषय में यहाँ अधिक नहीं कहना है; क्योंकि यह एक स्वतन्त्र लेख का विषय है। अतः हम केवल इतना ही कह कर यह प्रसंग समाप्त करते हैं कि स्त्री-शिक्षा के कट्टर पक्षपाती होते हुये भी प्रेमचन्द जी प्राचीन भारतीय आदर्श के ही अनुयायी जान पड़ते हैं और वर्तमान समाज में अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील युवतियों की स्वच्छन्दता प्रियता उन्हें पसन्द नहीं। 'गोदान' में वे इसका विरोध करते दिखायी देते हैं।

हिन्दी-पत्रकारों की स्थिति, नगरों में मजदूरों की दीन और दयनीय दशा, वेकारी की बढ़ती हुई समस्या, गाँवों में सफाई का प्रश्न, धार्मिक पाखण्ड और अन्धविश्वास आदि अन्य अनेक छोटी-मोटी समस्याएँ हैं जिन पर प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' में उसके पहले लिखे अपने अन्य उपन्यासों में भी यत्र-तत्र थोड़ा बहुत प्रकाश डाला है, इनके विषय में हम भी कुछ नहीं कहना चाहते। हाँ, जिन मुख्य-मुख्य समस्याओं की विवेचना हमने ऊपर की है, उनका पूरा इतिहास क्रमबद्ध रूप में

प्रेमचंद जी के उपन्यासों में मिलता है, दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि प्रेमचन्द जी के विचार इन समस्याओं के संबंध में किस प्रकार बदलते रहे हैं, उनके उपन्यासों के पढ़ने से हमें यह भी ज्ञात होता है। इन्हीं दोनों कारणों से हम कह सकते हैं कि यद्यपि रोचकता, कला, आदि विशेषताओं में हिंदी साहित्य के अन्य उपन्यास, प्रेमचंद जी के उपन्यासों की बराबरी अभी नहीं कर सकते तथापि, संभव है, दस-पाँच वर्ष बाद कोई समय ऐसा आवे जब इसमें श्रेष्ठतर उपन्यास हिंदी में लिखे जायँ; उस समय भी अपने सामाजिक समस्याओं के विवेचनात्मक और क्रमबद्ध वर्णन के कारण प्रेमचन्द जी के उपन्यासों का पर्याप्त सम्मान होगा और इस वर्तमान समय की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक स्थिति का इतिहास लिखने वाले के लिए तो वे उपन्यास इतिहास ग्रंथों का सा काम देंगे।

(ख) प्रेमाश्रम की समस्या

साहित्य, देश और समाज में होनेवाली मानसिक क्रांतियों का प्रतिविम्ब है। कवि, नाटककार, या उपन्यासकार कैसा भी साहित्यिक क्यों न हो, समाज और देश में रहने के नाते उसे उन उथल-पुथलों में भाग लेना और उनसे प्रभावित होना पड़ता है। वह राजनीतिज्ञों की तरह उनमें भाग तो नहीं लेता, व्याख्यान देना, संगठन करना और जनता में पहुँचाना, उनके लिए सम्भव नहीं है, वह 'मंच' का प्रयोग नहीं कर सकता; पर उन्हीं उद्देश्यों के लिए, वह कलम का सहारा लेता है। नेतागण जिस काम को व्याख्यानों द्वारा उपदेश देकर पूरा करते हैं, उसको कहीं अधिक अच्छे ढंग से लेखक अपने साहित्य द्वारा कर दिखाते हैं। राष्ट्र और समाज की अधोगति को देखकर उनका भी हृदय उतना ही दुखी होता है जितना राजनीतिज्ञों का, पर वे खुल कर जनता के सामने नहीं आते। हाँ, साहित्य के द्वारा जनता के हृदय को वे अवश्य आंदोलित कर देते हैं। फ्रांस में रूसो ने, इंगलैंड में डिकेंस ने और बंगाली समाज में शरच्चन्द्र ने प्रशंसनीय क्रांतिकारी

काम किये हैं। इसी प्रकार भारत के ग्रामवासियों की समस्या को अपने साहित्य द्वारा प्रेमचंद जी ने सुलझाने का प्रयत्न किया। 'प्रेमाश्रम' में दो समस्याएँ हैं। १—राष्ट्रीय समस्या—ग्रामोत्थान। २—सामाजिक समस्या—विधवा। उन्हीं का विश्लेषण प्रेमाश्रम का उद्देश्य है।

राष्ट्रीय समस्या-ग्रामोत्थान

जिस समय प्रेमाश्रम का प्रणयन हुआ, उस समय राष्ट्रीय आंदोलनों का जोर था। भारत की स्वतंत्रता के लिए जन जागरण की आवश्यकता थी। कोई नगरों में जागृति करके मध्यमवर्ग को सचेत करना चाहता था, कोई सरकारी नौकरों में असहयोग की भावना पैदा करके अँग्रेजी शासन को असफल बना देना चाहता था, और कोई मजदूरों के जगाने में ही व्यस्त था; परंतु प्रेमचन्द ने इस समस्या को बड़े विशद रूप में समझाने की चेष्टा की है। भारत में नब्बे प्रतिशत लोग किसान हैं। जब तक वे नहीं उठते, उनकी समस्याओं और कष्टों का अंत नहीं होता, राष्ट्रोत्थान की बात एक कल्पना है।

इस ग्राम-समस्या के विश्लेषण में प्रेमचन्द जी ने यथार्थवाद और आदर्शवाद का बड़ा सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया है। एक ओर कृषक-समाज का सच्चा चित्र खींचकर उनकी वास्तविक कठिनाइयों को इस तरह स्पष्ट कर दिया है कि हमारा मन मुग्ध हो जाता है और हम उस समस्या को सुलझाने के लिए आतुर हो उठते मैं। किसानों पर जमींदारों, उनके कारिंदों, सरकारी अफसरों और महाजनों के अत्याचारों का इतना विशद संवेदनात्मक वर्णन किया है कि हम किसानों की दुर्दशा समझकर दुखी होते हैं। 'प्रेमाश्रम' में वर्णित यह घटनाएँ इतनी सच्ची हैं कि उन पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। वास्तव में प्रेमचंद जी ने स्वयं गाँवों में रहकर इस समस्या की वास्तविकता को समझा था। उनकी पत्नी शिवरानी देवी ने स्वयं लिखा है—"जब गाँव के काश्तकार इकट्ठा होते, तो उनसे बातें करते, झगड़ा निबटाते, बच्चों से खेलते भी जाते। कोई नये कानून बनते, तो उन्हें काश्तकार ों

को समझाते। उन सभों के साथ बिल्कुल काश्तकार हो जाते थे।... चाहते थे गाँव एक किला बन जाय.........काश्तकारों की कमजोरी देखकर उन्हें बड़ा दुख होता।'' वे ग्रामीण परिस्थिति के पूर्णतया परिचित थे, इसलिए उनके चित्र सजीव हैं। दूसरी ओर देश में बहती हुई आदर्शवादी धाराओं से भी वे प्रभावित थे। समस्या के हल, जो उन्होंने बताये उनपर आदर्शवाद का पुट है। इस प्रकार समस्या का विश्लेषण करके उसे सुलझाने और हल करने की भी चेष्टा 'प्रेमाश्रम' में लक्षित होती है।

ग्राम-समस्या का पहला पहलू है शोषण। कृषक वर्ग का यह शोषण बहुमुखी है। जमींदार, उनके कारिंदे, सरकारी अफसर और उनके कर्मचारी, महाजन और धर्म के ठेकेदार सभी किसानों का रक्त चूस कर मोटे होते हैं। किसान जमींदार की जमीन जोतता है और उसके लिए उसे लगान देता है; पर जमींदार समझता है कि वह किसान पर एक अहसान करता है और किसान अपने को उसका कृतज्ञ समझता है। इसीलिये बेगार देना भी कर्तव्य समझता है। ज्ञानशंकर अपने आसामी मनोहर से कहता है—''क्यों रे, जिस पत्तल में खाता है उसी में छेद करता है। १००) की जमीन ५०) में जोतता है। उस पर जब थोड़ा सा बल खाने का अवसर पड़ा, तो जामे से बाहर हो गया ?'' उधर किसान भी सोचता है—बिना जमींदार का हुक्म माने गाँव में गुजर नहीं हो सकती। इस अधिकार भावना के बल पर शोषण प्रारंभ होता है। स्वार्थसिद्धि के लिए जमींदार अनेक हथकंडे प्रयोग करता है। प्रेमाश्रम में हम देखते हैं कि ब्याह-शादियों के मौके पर न्योते देकर, घी-दूध वसूल करना, संगीत-सम्मेलनों के आयोजन में चंदे लेना और धर्म-पालन के नाम पर बल-प्रयोग द्वारा दान लेना, सभी उपायों द्वारा शोषण होता है। शोषण के मार्ग में भीषण अत्याचार भी होते हैं। ज्ञानशंकर, गायत्री और राय कमलानन्द का अपने आसामियों के साथ जैसा व्यवहार है, उसे देखकर हृदय काँप उठता है। उनके घर में आग

लगवा देना, लूट लेना, पीटना सभी प्रकार की पीड़ाएँ उन्हें पहुँचायी जाती हैं।

किसानों का शोषण करनेवाला दूसरा गुट है जमींदार के कारिंदों और पटवारियों का। इनका किसानों से सीधा संबंध रहता है। जिस किसान पर इनकी कुदृष्टि पड़ गयी, वह उजड़ गया। इसलिए इनकी पूजा करना आवश्यक हो जाता है। इसलिए वे लोग इनको दूध-घी से सराबोर रखते हैं। इस गुट के प्रतिनिधि हैं गौसखाँ।

तीसरे प्रकार के शोषक हैं सरकारी अफसर जिनमें तहसील-दार, डिप्टीकलेक्टर और थानेदार हैं। इनका देहातों में राज्य होता है। मनमानी बेगार और घूस लेना, अत्याचार करना इनका काम है। वे लोग न्याय और शासन चलाने के लिए रखे जाते हैं पर "सत्य और न्याय पैरों के नीचे आ जाता है, लोभ और स्वार्थ की विजय हो जाती है। जिस दूध, घी, साग-भाजी, मांस-मछली आदि के लिए शहर में तरसते हैं, जिनका स्वप्न में दर्शन नहीं होता, उन पदार्थों की यहाँ केवल जिह्वा और बाहुबल से रेल-पेल हो जाती है। जितना खा सकते हैं, खाते हैं, बार-बार खाते हैं और जो नहीं खा सकते, वह घर भेजते हैं। घी से भरे कनस्टर, दूध से भरे हुये मटके, उपले लकड़ी, घास और चारे से लदी हुई गाड़ियाँ शहरों में आने लगती हैं। देहातवालों के लिए ये दिन बड़े संकट के होते हैं। उनकी शामत आ जाती है, मार खाते हैं, बेगार में पकड़े जाते हैं, दासत्व के दारुण निर्दय आघातों से आत्मा का भी ह्रास हो जाता है।" कहने की आवश्यकता नहीं, यह सब किसानों के ऊपर होता है। अधिकारी वर्ग की चक्की में वे पिसते रहते हैं।

इस भीषण शोषण के परिणामस्वरूप किसानों की दशा बिगड़ी है। एक तो उपज जो कुछ भी होती है, उसका मूल्य अधिक नहीं मिलता, दूसरे, उसका आधे से ज्यादा समय जमींदारों,महाजनों, कारिंदों और अफसरों की बेगार में जाता है। कभी-कभी गाँवों में इसी शोषण

के फलस्वरूप भीषण दंगे भी होते हैं जिनकी झलक प्रेमाश्रम में गौस खाँ की हत्या के रूप में दिखाई देती है। किसानों को फौजदारी, दीवानी और माल—जहाँ हत्या, सूद, बेदखली और इजाफा के मुकदमे होते हैं छुट्टी नही मिलती, वे काम कब करें ? धरेलू उद्योग-धंधों जो फुरसत में किये जा सकते हैं, उनका अभाव होता है। इस प्रकार किसानों की आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं। किसान इस शोषण के वास्तविक तत्व को नहीं ग्रहण कर पाता। कादिर मियाँ कहते हैं—इस खेती में कुछ नहीं रह गया, मजदूरी भी नहीं पड़ती। डपटसिंह कहते हैं, बस एक मरजाद रह गयी, न जाने क्या हुआ कि जमीन की बरकत उठ गई। बेचारे भाग्य को दोष देते हैं और यह नहीं समझते कि हमारे पास धन कहाँ से आये खेतों को बनाने का समय नहीं। अज्ञानता के कारण वे सारा दोष भाग्य और भगवान के सर पर मढ़ते हैं—"अरे, अल्लाह को यही मंजूर होता कि हम लोग इज्जत आबरू से रहें तो काश्तकार क्यों बनाता······सभी की गुलामी करनी पड़ती है। शायद अल्लाह भी नाराज है।

गाँवों में पूर्ण जागृति नहीं है। अज्ञानता और अतिसहन-शक्ति ग्रामीण समाज के दोष हैं। सदियों से पिसते किसान इस लायक नहीं रह गये कि सर उठा सकें। उन पर अत्याचार होते हैं परन्तु वह एक पशु की तरह उन्हें सहन करता जाता है। पर एक नई पीढ़ी है जिसमें क्रान्ति की भावना जगने लगी है। इसी पीढ़ी में बलराज है। वह इन अत्याचारों का विरोधी है। इसका कारण यह है कि वह गाँव के अन्य लोगों की तरह कूप-मण्डूक नहीं। वास्तव में अपनी हीनता का दोष मनुष्य को तभी होता है, जब उसे दूसरे की महानता ज्ञात हो। बलराज थोड़ा पढ़ा-लिखा है, इसलिए रूस में उठनेवाली क्रान्ति की लहरों में उसने स्नान कर लिया है। वह कहता है—"तुम लोग मेरी हँसी उड़ाते हो, मानो काश्तकार कुछ होता ही नहीं। वह जमींदार की बेगार ही करने के लिये बनाया गया है, लेकिन मेरे पास जो पत्र आता है, उसमें

लिखा है कि रूस में काश्तकारों का राज है, वह जो चाहते हैं करते हैं। उसी के पास कोई देश बलगारी है। वहाँ अभी हाल की बात है, काश्तकारों ने राजा को गद्दी से उतार दिया है और अब किसानों और मजदूरों की पंचायत राज करती है।"

इस प्रकार समस्या का पूरा चित्र सामने आ जाता है। एक ओर शोषकवर्ग है और दूसरी शोर शोषित जिसमें क्रांति की भावना भरती जा रही है। पीड़ित वर्ग हिंसा का मार्ग अपना रहा है—बलराज और मनोहर के कार्य इसी भावना के द्योतक हैं। 'प्रेमाश्रम' में इस प्रकार वर्ग संघर्ष की समस्या का विषलेषण हुआ पर इसका कोई हल भी होना था। इस संबंध में प्रेमचंद जी कार्लमार्क्स का हिंसा, हत्या और रक्तपात वाला मार्ग नहीं पसन्द करते। प्रेमाश्रम में पग-पग पर 'कादिर' और 'प्रेमशंकर' के मुख से इस मार्ग का खंडन कराया गया है। 'प्रेमाश्रम' की स्थापना और मायाशंकर जैसे आदर्श जमींदार की कल्पना द्वारा इस वर्ग-संघर्ष के दोषों को दूर करने की चेष्टा की गई है। संघर्ष द्वारा समाज में कटुता फैलती है, कोई भी पक्ष विजयी हो, समाज सुखी नहीं होगा। प्रेमाश्रम का उद्देश्य इस संघर्ष को मिटाकर पारस्परिक सहयोग और सद्भावना कायम करना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस उद्देश्य को प्रस्तुत करने में गाँधीवाद का सहारा मिल गया। अहिंसा द्वारा हृदय-परिवर्तन पर सबसे अधिक जोर दिया गया है। अहिंसा द्वारा रचना होती है, विनाश नहीं। प्रेमाश्रम का आदर्श जीवन अहिंसा के द्वारा ही प्राप्त होता है। उसी मार्ग पर चलकर देश समृद्धिशाली हो सकता है।

सामाजिक समस्या—विधवा

गायत्री के चरित्र द्वारा 'प्रेमाश्रम' का उद्देश्य हिंदू विधवा की समस्या का विश्लेषण करना है। सद्यः विधवा पर जो जबरन ब्रह्मचर्य लादा जाता है, उसकी पोल खोली गई है। प्रेमचंद जी विधवा-विवाह के पक्षपाती थे और उन्होंने स्वयं विधवा-विवाह किया था। विधवा के

प्रति उनकी सहानुभूति है और उनकी समस्याओं की गहराई तक पहुँचने की उनमें पूरी क्षमता है। नवयुवती विधवा में इतना वैराग्य नहीं होता जितना उससे आशा की जाती है। वह अपने शेष दीर्घजीवन को पति की याद में बिताने में असमर्थ होती है। स्त्री एक लता है, उसे किसी पुरुष वृक्ष का सहारा अवश्य चाहिए, किंतु हिंदू विधवा को यह अधिकार प्राप्त नहीं होता। उसे अपने मनोभावों का दमन करना सिखाया जाता है परन्तु वह ऐसा करने में असमर्थ होती है। मनुष्य के लिए अपनी प्रवृत्तियों को संतुष्ट करना आवश्यक है। युवावस्था में वासनाओं का वेग इतना बढ़ जाता है कि उसे सँभालना कठिन होता है। ऐसी स्थित में संयम से रहना बड़ी कठिन समस्या है। बेचारी विधवा के सामने यही एक बड़ा कठिन प्रश्न रहता है कि वह अपने सतीत्व की रक्षा किस प्रकार करती रहे। सामाजिक अवरोधों के कारण ही वह सतीत्व बनाये रखती है परंतु उसका पालन हृदय से नहीं कर पाती। मौका पाने पर कितनी विधवाएँ अपने व्रत को भंग कर बैठती हैं और उनका जीवन किसी दूसरी दिशा में ही मुड़ जाता है। गायत्री के चरित्र द्वारा इस विधवा-समस्या पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

इसी प्रकार प्रेमाश्रम में 'परिवार' की धार्मिक अन्ध-श्रद्धाओं की जिनके चक्कर में अज्ञानवश तेजशंकर और पद्मशंकर जैसे बालक और श्रद्धा जैसी सरल स्वभाव की स्त्रियाँ पड़ी रहती हैं, और इर्शादअली जैसे ढोंगी सुधारवादियों की पोल खोली गई है। सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण ही प्रेमाश्रम का उद्देश्य है। उसका कोई हल पाठकों के सामने नहीं रक्खा गया है।

प्रेमाश्रम का संदेश

'प्रेमाश्रम' में सबसे प्रथम संदेश यही मिलता है कि किसान चेते। अपना आत्म सम्मान जाग्रत करे। वह भी जमींदार की तरह मनुष्य है और उसे अत्याचार नहीं सहन करना चाहिए क्रान्ति के अग्रदूत, बलराज के मुख से यह संदेश सीधी सादी भाषा में दिये गये हैं—

"किसी का दिया खाते हैं कि किसी के घर माँगने जाते हैं ? अपना तो एक पैसा नहीं छोड़ते, तो हम क्यों धौंस सहें ।"

"हमसे जो अधिक काम करता है, उसे हमसे अधिक खाना चाहिये······रंगी कोई बेगार का आदमी नहीं है, घर का आदमी है। वह मुँह से चाहे न कहे पर मनमें अवश्य कहता होगा कि छाती फाड़ कर काम मैं करूँ और मूछों पर ताव देकर खायँ ये लोग । ऐसे दूध-घी खाने पर लानत है ।" साम्यवाद का यह संदेश बड़े खरे शब्दों में व्यक्त किया गया है ।

अधिकारियों की नियुक्ति इसलिए होती है कि वे जनता का कष्ट निवारण करें, परन्तु होता इसका उल्टा है । वे स्वार्थी अधिकारी गाँवों में मनमानी लूट मचाते हैं । उनके लिये बलराज ने जो संदेश दिया है वह कितना तीखा और व्यंग्यपूर्ण है—

"सरकार इसे सिरदर्द समझते हैं, और यहाँ हम लोगों की जान पर बनी हुई है । हुजूर यहाँ धर्म के आसन पर बैठे हैं और चपरासी परजा को लूटते फिरते हैं । मुझे आपसे यह बिनती करने का हौसला हुआ तो इसलिए कि मैं समझता था, आप दीनों की रक्षा करेंगे ।"

अधिकारीगण इस सम्बन्ध में कि उन्हें अत्याचार करना पड़ता है, यह कहते हैं कि अगर वे ऐसे अत्याचार न करें तो ऊँचे अफसर उन्हें नालायक समझते हैं । उनके सामने दो ही मार्ग होते हैं, या तो वे अपना पद छोड़ दें या प्रजा का ख्याल करें । ऐसे अफसरों के लिए शीलमणि के द्वारा कितना सुन्दर संदेश दिलाया गया है—

"बला से तुम्हारे अफसर अप्रसन्न हैं, तरक्की नहीं होती है, न सही ! तुम्हारे हाथों में न्याय करने का अधिकार तो है । अगर तुम्हारे विधातागण तुम्हारे व्यवहार से असन्तुष्ट होकर तुम्हें पदच्युत कर दें, तो तुम्हें अपील करनी चाहिये और चोटी के हाकिमों से लड़ना चाहिए। यह नहीं कि अफसरों ने जरा तेवर बदला और तुमने भयभीत होकर त्यागपत्र देने की ठान ली । तुम्हारी इस अकर्मण्यता से तुम्हारे कितने

ही न्यायशील, और आत्माभिमानी सहवर्गियों की हिम्मत टूट जायेगी और वे भाग निकलने का उपाय करने लगेंगे। विभाग सज्जनों से खाली हो जायगा और वहाँ खुशामदी टट्टू हाकिमों के इशारे पर नाचने वाले बाकी रह जायेंगे।

वास्तव में शासनाधिकारियों में कितने ही ऐसे हैं जिनमें जन-सेवा का ख्याल है पर वे अन्य स्वार्थपर लोगों के कारण निराश होकर कर्म क्षेत्र से हट जाना चाहते हैं। वास्तव में उचित तो यही है कि वे अपने स्थान पर डटे रह कर अपना कर्त्तव्य पालन करते रहें।

देश-सेवा और समाज-सेवा का बाना पहने हुए कितने ही ऐसे अवसरवादी हैं जो जनता की आँखों में धूल झोंकते हैं और उन्हें लूटते हैं। सार्वजनिक समस्याओं के द्वारा जनता को बहकाकर मनमानी लाभ उठाते हैं। ऐसे लोगों से सतर्क रहने के लिए 'प्रेमाश्रम' में सुन्दर संकेत हैं। जहाँ प्रेमशंकर जैसे सच्चे सेवक प्रेमाश्रम की स्थापना करके गांवों का भविष्य उज्ज्वल करना चाहते हैं, वहाँ ईजादहुसेन जैसे ढोंगी मनुष्य भी हैं जो अपना स्वार्थ सिद्ध करने में सिद्धहस्त हैं। वे हिंदू मुस्लिम एकता के आन्दोलन की आड़ में खूब पैदा करते हैं और फिर शान भी झाड़ते हैं—"आज मालूम हुआ कि सब कितने अहमक होते हैं। इसी अपील पर किसी इसलामी जलसे में मुश्किल से १००) मिलते, इन बछिया के ताउओं की खूब तारीफ कीजिए। हजो मसीह तक हो तो मुजायका नहीं, फिर इनसे जितना चाहें वसूल कर लीजिए।" ऐसे ही लोगों से सतर्क रहने के लिए शीलमणि कहती है—"जाति सेवकों में तुम्हें सैकड़ों आदमी ऐसे मिलेंगे जो स्वार्थ के पुतले हैं और सेवाभेष बनाकर गुलछर्रे उड़ाते हैं। निस्पृह पवित्र आत्माओं को फूटी आँखों नहीं देख सकते। उनके बीच रहना दूभर हो जायगा।" यह एक सत्य है कि ऐसे सुधारवादी जनआन्दोलन के सबसे बड़े शत्रु हैं। ये जनता को भुलावे में डालकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं और जब संघर्ष का मौका आता है तो धोखा देते हैं।

भारतीय समाज की अधोगति का एक कारण है यहाँ के मनुष्यों का अन्धविश्वास। स्त्री-पुरुष सभी इसके शिकार हैं। अज्ञानता के कारण बचपन से ही बालक उन्हें सीख लेता है और अन्त में उसके बड़े बुरे परिणाम होते हैं। हमारे अन्धविश्वास हमें अज्ञानी, अकर्मण्य और अपंग बना देते हैं। हम अपनी शक्तियों का समुचित विकास न करके भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं और अन्त में धोखा खाते हैं, प्रेमाश्रम में तेजशंकर और पद्मशंकर दोनों बचपन में ही धार्मिक पाखंडों और अंधविश्वासों पर आस्था करने लगते हैं। वह नयी पीढ़ी जो देश का भविष्य है, प्रेमशंकर द्वारा सचेत की जाती है—

"यह सब गपोड़ा है। खेद है कि तुम विज्ञान पढ़कर उन गपोड़ों पर विश्वास करते हो। संसार में सफलता का सबसे जागता हुआ मंत्र अपना उद्योग, अध्यवसाय और दृढ़ता है, इसके सिवा और मंत्र सब झूठे हैं।"

"तुम लोग इस पाखंड में पड़कर अपना समय व्यर्थ गँवा रहे हो। यह बड़े जोखिम का काम है और तत्व कुछ नहीं। इन मंत्रों को जगाकर तुम जीवन में सफलता नहीं प्राप्त कर सकते। चित्त लगाकर पढ़ो, उद्योग करो। सच्चरित्र बनो। धन और कीर्ति का यही महामंत्र है।

इस अंधविश्वास का इतना भीषण परिणाम होता है कि अंत में ये दो बालक अपनी जान से हाथ धो बैठते हैं।

किसानों की दशा सुधारने के लिए अनेक उपाय किए जा रहे हैं। विदेशों के संपर्क से हमारा ध्यान वैज्ञानिक उपायों की ओर जा रहा है। याँत्रिक विधि से खेती करने में सुविधा होती है और उपज भी दूनी बढ़ जाती है। भारतवर्ष में विदेशों से शिक्षा प्राप्त कर लौटे हुए विद्वान उन्हीं साधनों के उपयोग पर जोर देते हैं। प्रेमशंकर भी उन्हीं में से एक हैं। वे यहाँ आकर कृषि-सुधार की योजना चलाते हैं, समाचार पत्रों में सारगर्भित लेख लिखते हैं। बड़े पैमाने पर प्रयोग रूप में खेती करने के लिए तीन-चार लाख रुपए की आवश्यकता होती है। फलतः

उन्हें रईसों और धनी लोगों के आगे हाथ फैलाना पड़ता है। उनकी आदर्शवादी सुधार योजना चकनाचूर हो जाती है। इस प्रकार के विद्वानों को अपनी आदर्शवादिता के कारण निराश होना पड़ता है। प्रेमशंकर द्वारा यथार्थता का संदेश मिलता है—

"प्रयोगशाला स्थापित करके मैं कुछ स्वार्थसिद्धि भी करना चाहता था। कुछ लाभ होता, कुछ नाम होता। परमात्मा ने उसी का मुझे यह दंड दिया है। सेवा का क्या यही एक साधन है? मैं प्रयोगशाला के ही पीछे क्या पड़ा हूँ? बिना प्रयोगशाला के भी कृषि-संबंधी विषयों का प्रचार किया जा सकता है।

हमारे देश के किसान निर्धन हैं उनके पास जब पाश्चात्य साधनों का अभाव है, तो लम्बी चौड़ी सुधार की बातों से क्या लाभ हो सकता है? उनकी जितनी शक्ति है, उसी के अनुसार काम करने से उनकी समस्या हल हो सकती है। वास्तव में जैसा सोचा जाता है कि किसान खेती के विज्ञान से अनभिज्ञ हैं, वह विचार गलत है। यह बात तभी मालूम होती है जब उनके सम्पर्क में आया जाय। प्रेमशंकर खुद अनुभव करते हैं कि किसानों में परिश्रम, मितव्ययिता, आत्मसंयम और गृह-प्रबंध आदि सभी गुण हैं। उनकी दरिद्रता का मुख्य कारण है आपस की फूट, स्वार्थपरता और गुलामी। विदेशी शासन उनकी पाँवों की वेड़ी थी। यह शासन चाहता था कि कृषकों में सद्विचारों का प्रादुर्भाव न होने पाये, अन्यथा वे क्रांति कर देंगे।

इस बात से सभी सहमत हैं कि किसानों की दशा तब तक नहीं सुधर सकती जब तक जमींदारी-प्रथा का विनाश नहीं होगा। जमींदारी को नष्ट करने के लिए, संघर्ष अनुचित है। 'प्रेमाश्रम' जमींदारों को संदेश देता है कि वे अपना स्वत्व स्वयं त्याग दें। मायाशंकर के मुंह से यह बात बड़े अच्छे ढंग से कहलाई गई है—"भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की, या किसान की, जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है। राजा देश की रक्षा करता है, इसलिए उसे

किसानों से कर लेने का अधिकार है। अगर किसी अन्य वर्ग या श्रेणी के लोगों को मीरास, मिल्कियत, जायदाद, अधिकार के नाम पर किसानों को अपना भोग्यपदार्थ बनाने की स्वच्छन्दता दी जाती है, तो इस प्रथा को वर्तमान समाज व्यवस्था का कलंक चिह्न समझना चाहिए। मेरी धारणा है कि मुझे किसानों की गर्दनों पर जुआ रखने का कोई अधिकार नहीं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न वर्ग के लोगों के लिये प्रेमाश्रम उनके उपयुक्त संदेश प्रस्तुत करता है।

(घ) चरित्र-चित्रण और पात्र

उपन्यास एक लोक है और पात्र उस लोक के प्राणी। उपन्यास और इसके पात्र इसी मृत्युलोक और मनुष्य की छाया हैं। इसीलिए उपन्यास में मानवीय स्वभावों और कर्मों का वर्णन रहता है। यह ठीक है कि उपन्यास में मानवीय स्वभावों और कर्मों का वर्णन रहता है। यह ठीक है कि उपन्यास के पात्र मनुष्य की भाँति शारीरिक अस्तित्व नहीं रखते परन्तु उनका व्यक्तित्व उसी तरह सजीव होता है जैसा हाड़-मांस के बने मनुष्य का। पात्रों के स्वभावों और शील-गुणों के विवेचन को ही चरित्र-चित्रण कहते हैं।

प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में चरित्र-चित्रण का महत्व

लोग उपन्यास इसलिये पढ़ते हैं कि उनका मनोरंजन हो। उपन्यास द्वारा दो प्रकार से मनोरंजन हो सकता है। एक तो पाठक का मन उपन्यास की घटनाओं में उलझ कर इतना रमता है कि उसे अत्यन्त आनन्द आने लगता है। "इसके बाद क्या होगा ?", यही जिज्ञासा उसके मन को आकर्षित किये रहती है। जिन लोगों ने बा० देवकीनन्दन खत्री के चन्द्रकांता उपन्यास का आनन्द लिया है उन्हें इस तत्व का पूरा अनुभव होगा। इस प्रकार के उपन्यास घटना प्रधान कहलाते हैं। प्रेमचन्द जी के उपन्यास इस कोटि में नहीं आते। पूरा 'प्रेमाश्रम' पढ़ जाइये पर घटनाजनित कुतूहल

का अनुभव नहीं होता। चाहे जहाँ से उपन्यास को पढ़ना छोड़ दीजिये, आगे के विवरण को जानने की इच्छा नहीं होती।

दूसरे प्रकार के उपन्यास वे हैं, जिनके पात्रों के स्वभाव, चरित्र, आचरण और विचार पाठक का मन आकर्षित किये रहते हैं। पाठक उन पात्रों को पसन्द करता है, उनके विचारों से सहमत होता है, उनके दुख और सुख में मानसिक रूप से दुखी और सुखी होता है। पढ़ते-पढ़ते एक आध पात्र को तो वह स्वयं अपनी आत्मा समझने लगता है। बस, उपन्यास के पढ़ने में उसे वही आनन्द आता है, जो उसे स्वयं काम करने में मिलता है। इस प्रकार के उपन्यास चरित्र-चित्रण प्रधान होते हैं। 'प्रेमाश्रम' में पात्रों के चरित्र के विकास में ही पाठक का मन उलझा रहता है। ज्ञानशंकर की स्वार्थपरता, कूटनीति और धोखा देने की प्रवृत्ति के कारण मन में घृणा होती है। ला० प्रभाशंकर की सरलता, परिवार-प्रेम और उदारता के प्रति श्रद्धा और भोले-भाले किसानों की सरलता और सहन-शक्ति पर आस्था उत्पन्न होती है। घटनाप्रधान उपन्यासों में जी चाहता है कि उन्हें हम आद्योपांत पढ़ डालें और तब उठें। चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यास को एक साथ पढ़ डालना असम्भव है, पाठक, स्वयं उसे 'दाल-भात' की तरह खा नहीं जाना चाहता। उसके मन में भावों का उद्वेग होता है और उनके शमन के लिये, उपन्यास बन्द कर देने की इच्छा होती है। दो तीन परिच्छेद पढ़ चुकने के बाद, पुस्तक बन्द करके, हम पात्रों के स्वभावों पर विचार करने लगते हैं। प्रेमचन्द जी के चरित्र-चित्रण की यह प्रमुख विशेषता है।

'प्रेमाश्रम' में चरित्र-चित्रण की विशेषता

पात्र और घटनाओं का सम्बन्ध

हमारे जीवन में क्षण-प्रतिक्षण जो घटनायें होती हैं, परिस्थिति का निर्माण करती हैं। इन घटनाओं के घटित होने में हमारा हाथ है और

हमारे मित्रों, संबंधियों और पास पड़ोसियों का भी ! इसलिए ये परिस्थितियाँ आंशिक रूप में ही हमारे वश में हैं । अधिकतर हमीं, उनके वश में होते हैं । हम जो कुछ करते हैं, कहते हैं, या सोचते हैं, इन सबका परिस्थिति पर प्रभाव पड़ता है, उसमें परिवर्तन हो सकता है और इसी प्रकार जैसी हमारी परिस्थितियाँ होती हैं, उन्हीं के अनुसार हमें काम करना पड़ता है । हमें अनेक कार्य परिस्थिति के कारण करने पड़ते हैं और यहाँ तक कि हमारे रहन-सहन; और वेशभूषा में अन्तर पड़ जाता है । मनुष्य और परिस्थिति में क्रिया और प्रतिक्रिया का संबंध है । इसी तथ्य के अनुरूप पात्रों और घटनाओं में क्रिया-प्रतिक्रिया का सम्बन्ध प्रेमाश्रम में देखने को मिलता है ।

जब मनुष्य में मनोबल होता है, तो परिस्थितियों को वह बदल सकता है । 'प्रेमशंकर' एक साधनविहीन व्यक्ति है । उनका भाई, उनकी बिरादरी उनका बहिष्कार करती है, पास में उनके पर्याप्त धन भी नहीं है, और आदर्श कृषि-योजना को लागू करने में धनी जमींदार वर्ग और अधिकारियों का सहयोग प्राप्त नहीं है—उनके मार्ग में बाधायें ही बाधायें हैं परंतु वे उन परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करते हैं और अपने मनोबल से अपनी योजना को पूरा कर दिखाते हैं । इसी प्रकार परिस्थिति में भी बड़ी शक्ति होती है । मनुष्य को वे बड़ी आसानी से बदल भी देती हैं । सुक्खू चौधरी जो पहले जमींदार के कारिंदों और अधिकारियों के दुम में लगे रहते थे, अन्याय न सहन कर सके और सत्य के पक्ष में आ गये । अंत में उन्होंने यह अनुभव किया कि "इतनी बड़ी जिंदगानी अपने वन्धुओं का बुरा करने में कट गई·········यह सारी हाँडी मेरे पापों से भरी हुई है । इसी ने मेरे कुल का सर्वनाश कर दिया । कोई एक चुल्लू पानी देने वाला न रहा ।" इसी पश्चाताप से वे जेल का कष्ट उठाते हैं, पर घूस नहीं देते और जेल से वापस आकर साधु जीवन व्यतीत करते हैं । इसी प्रकार अत्याचार और अन्याय ने दुखरन भगत को पूर्ण नास्तिक बना दिया । देखिए—

"यह भक्ती और सर्धा क्या इसीलिए कि मुझ पर जूते पड़ें।......
धिक्कार है मुझ पर जो फिर ऐसे ठाकुर का नाम लूँ, जो इन्हें अपने घर रक्खूँ और फिर इनकी पूजा करूँ।"

परिस्थितियों के कारण ही उनकी तीस वर्ष की धर्म निष्ठा और आत्मिक श्रद्धा नष्ट हो गई। धार्मिक विश्वास की दीवार हिल गयी और उसकी ईंट बिखर गई।

प्रेमचन्द जी ने व्यक्ति और परिस्थिति के क्रिया और प्रतिक्रिया वाले संबंध को समझते हुए, उसी के अनुरूप पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है। परिस्थितियों के बीच उनके पात्रों का चरित्र निखर उठता है।

विश्लेषण प्रणाली

प्रेमचन्द पात्र को प्रवेश कराते समय उसके स्वभाव का थोड़ा बहुत परिचय अवश्य देते हैं जिसमें पाठक के मन में उस पात्र के विषय में एक धारणा बन जाय। पात्रों के स्वभाव का यह विवरण, उनके चरित्र की एक झलक मात्र है। ये विवरण लम्बे नहीं होते, और इसीलिए उनमें नीरसता का दोष नहीं मिलता। एक अवसर पर एक पात्र क्या काम करता है, उसका वर्णन करने के पूर्व प्रेमचंद उसके स्वभाव के सम्बन्ध में दो चार वाक्य अपनी ओर से कह देते हैं:—

"ज्ञानशंकर आदर्शवादी बाना पहनकर डिप्टी कलेक्टरी के अधिकार को न्याय और सत्ता का गला घोटनेवाला कहते थे और अधिकार से आत्मा को बड़ा बता रहे थे।

इन कुछ शब्दों में ही, ज्वालासिंह और ज्ञानशंकर की बातचीत की रूपरेखा का परिचय मिल जाता है। वास्तव में पात्र के स्वभाव के सम्बन्ध में विषय-प्रवेश के पूर्व कुछ शब्द कह देने से उनके चरित्र को समझने में सुविधा रहती है।

प्रेमचन्द, राय कमलानन्द को प्रवेश कराते समय उनके स्वभाव का परिचय बड़े संक्षिप्त ढंग से देते हैं :—

"किन्तु राय साहब उन प्राणियों में न थे जो शोक संताप के ग्रास बन जाते हैं। इसे विराग कहिये, चाहे प्रेम-शिथिलता या चित्त की स्थिरता। दो ही चार दिनों में उनका पुत्र-शोक जीवन की अविश्रांत कर्मधारा में विलीन हो गया।"

इसी प्रकार गायत्री के बारे में वे कह देते हैं:—

"गायत्री उन स्त्रियों में न थी जिनके लिये पुरुष का हृदय एक खुला हुआ पृष्ठ होता है। उसका पति दुराचारी था पर गायत्री को उस पर संदेह नहीं हुआ······वह अभी तक आध्यात्मिक श्रद्धा से उसकी स्मृति की आराधना किया करती थी। उसका निश्छल हृदय वासनायुक्त प्रेम के रहस्यों से अनभिज्ञ था। साथ ही सगर्वता उसके स्वभाव का प्रधान अंग थी। वह अपने को उससे कहीं ज्यादा विवेकशील और मर्मज्ञ समझती थी जितनी वह वास्तव में थी। उसके मनोवेग और विचार जल के नीचे बैठने वाले नहीं, सतह पर तैरनेवाले बुलबुले थे। ·· ······वह हँसमुख, विनयशील, सरल हृदय, विनोद प्रिय रमणी थी जिसके हृदय में लीला क्रीड़ा के लिये कहीं जगह न थी।

पात्रों के विषय में प्रेमचन्द खुद कह कर ही संतोष नहीं कर लेते वरन् अन्य पात्रों द्वारा किसी पात्र के चरित्र पर टीका टिप्पणी करवा कर, और अधिक स्पष्ट कर देते हैं। राय कमलानन्द के मुख से ज्ञान-शंकर के चरित्र की पोल सुन लीजिये—

"मैं आज तक ज्ञानशंकर को एक धर्म परायण, सच्चरित्र और सत्यनिष्ठ युवक समझता था। मैं उनकी योग्यता पर गर्व करता था और अपने मित्रों से उनकी प्रशंसा करते कभी न थकता था। पर अबकी मुझे ज्ञात हुआ कि देवता के स्वरूप में भी पिशाच का वास हो सकता है।"

इसी प्रकार प्रेमशंकर के चरित्र का मूल्य दूसरे पात्रों द्वारा आँका जा सकता है। शीलमणि कहती है—"प्रेमशंकर की तो मैं नहीं कह

सकती, वह देवता है।" डा० इर्फानअली भी उनके जीवन आदर्श को अपनाने के लिये उत्सुक होकर कहते हैं—"मैं भी प्रेमशंकर के जीवन को अपना आदर्श बनाऊँगा, संतोष और सेवा के सन्मार्ग पर चलूँगा।" प्रभाशंकर उनके बारे में कहते हैं—"बाबूजी, यह लड़का मेरे कुल का दीपक है, आप इस पर कृपा दृष्टि रखियेगा।"

वास्तव में किसी के चरित्र का निष्पक्ष निर्धारण अन्य के द्वारा ही हो सकता है; इसी से इस प्रणाली का आश्रय उपन्यासकार ने लिया है।

अभिनयात्मक प्रणाली

किसी पात्र के स्वभाव को व्यक्त करने में उसकी शारीरिक चेष्टाएँ बहुत कुछ सहायता देती हैं। प्रेमचन्द इस तत्व को अच्छी तरह समझते हैं। विलासी का अपमान फैजू और गौसखाँ द्वारा होने पर, मनोहर को सहन नहीं होता। वह अपने क्रोध को बलराज की तरह प्रकट नहीं कर देता। वह केवल इतना कहता है—"ऐसी बातें करने का मौका नहीं। अभी जाओगे तो बात बढ़ेगी और कुछ हाथ न लगेगा। चार आदमी तुम्हीं को बुरा कहेंगे। अपमान का बदला इस तरह नहीं लिया जाता।" गौसखाँ की हत्या का संकल्प इन शब्दों में भरा है। क्रोध में मनुष्य की ताकत दुगनी हो जाती है, वह हिताहितज्ञान शून्य हो जाता है। मनोहर ऊपर से शांत रहता है पर उसके क्रोध का अन्दाजा उसके अभिनय से अच्छी तरह लग जाता है—

"मनोहर ऐसे उद्दीप्त उत्साह से अपने कान में दत्तचित्त था मानो उसकी युवावस्था का विकास हो गया है। धान के पोलों के ढेर लगते जाते थे, न आगे ताकता था, न पीछे; न किसी से बोलता, न किसी से कुछ सुनता; न हाथ थकते न कमर दुखती थी। बलराज ने चिलम भर कर रख दी। तम्बाकू रक्खे रक्खे जल गया। बिलासी खाँड का रस घोलकर सामने लायी, उसने उसकी ओर देखा तक नहीं; कुत्ता पी गया। कुआर की धूप थी, देह से चिनगारियां निकलती थीं, पसीने की धारें बहती थीं; किन्तु वह सिर तक न उठाता था।"

दूसरी ओर बलराज कभी खेत में आता, कभी पेड़ के नीचे जा बैठता, कभी चिलम पीता। उसे भी क्रोध था, पर दोनों के क्रोध में कितना अंतर था, उनके अभिनय ही बता देते हैं। लेखक स्पष्ट कर देता है—

"एक ही अग्नि दोनों के हृदय में प्रज्वलित थी, एक ओर सुलगती हुई और दूसरी ओर दहकती हुई.........एक ही भावना दोनों के हृदय में थी, एक में उद्दाम-उच्छृंखल और दूसरे में गम्भीर और स्थिर।"

सचमुच मनोहर ने उसी समय गौसखाँ की हत्या करके बदला लेने का निश्चय कर लिया था। उसके सारे काम उसके मन्सूबे को प्रकट करते थे। विलासी समझ जाती है—"तुम्हारे इस तरह गुमसुम रहने से मेरा कलेजा दहल रहा है। तुमने क्या ठान रक्खी है, बोलते क्यों नहीं ?"

साथ ही जब हम कोई भयंकर निर्णय कर चुकते हैं तो उसे छिपाने की चेष्टा भी करते हैं। जिस कृत्य को हम पाप समझते हैं, और जिसे करने को सोचते ही हमारा हृदय काँपता है, और दुखी होता है उसे कर डालने का निश्चय करने पर मन की जो दशा होती है, उसे हम अपनी प्रसन्नता के आवरण में छिपा लेते हैं। हत्या का निश्चय कर चुकने के बाद मनोहर खेत से घर जाते समय "उच्च स्वर से बिरहा गाता हुआ" जाता है। गाँव में हलचल है पर वह शांत है। वह इच्छापूर्वक भोजन करता है और नारियल पीता है। मनोहर के प्रत्येक व्यवहार से उसका दृढ़ निश्चय झलकता है। अभिनयात्मक प्रणाली द्वारा चरित्र-चित्रण में बड़ा बल आ गया है और मानव स्वभाव का ज्यों का त्यों चित्रण हो सका है।

चरित्र-चित्रण की सजीवता और स्वाभाविकता

प्रेमचन्द पात्रों का स्वभाव इस प्रकार चित्रित करते हैं कि वह पात्र इसी संसार का और हमारी तरह का प्राणी जान पड़ता है। उसके सारे कार्य हमारे अनुभव और कल्पना से परे नहीं होते सच तो यों है

कि उनके सारे पात्र ऐसे होते हैं जिनमें अपनी दुर्बलताओं और अपने आदर्शों को उसी रूप में पाते हैं, जिस तरह हम अपने आप में। प्रेम-शंकर का त्याग और निस्पृह समाज सेवा, ज्ञानशंकर की धूर्तता, गायत्री की स्त्री-सुलभ निर्बलता और बलराज की उद्दंडता जैसे स्वाभाविक गुण हम अपने चारों ओर मित्रों और पड़ोसियों में देखते हैं। प्रेमाश्रम में एक-आध पात्र ऐसे भी हैं जो विचित्र से जान पड़ते हैं—जैसे राय-कमलानन्द; मगर इस प्रकार के व्यक्ति हमें कभी-कभी देखने को मिल भी जाते हैं। ये साहब ऐसे हैं कि साठ वर्ष के होने पर भी जवान हैं। गर्मी में आग खाते और आग ही पीते हैं और विष को दूध और घी समझते हैं। जब ज्ञानशंकर उन्हें विष दे देता है और वे इसे जान भी जाते हैं, तब भी वे खाना खा जाते हैं और गर्व के साथ कहते हैं—

"यद्यपि यह थाल बीस पचीस आदमियों को सुलाने के लिये काफी है; ·····लेकिन मैं पूरा थाल हजम कर सकता हूँ और मेरे माथे पर बल भी न दिखाई देगा।" उनका यह काम अद्भुत जान पड़ता है पर प्रेमचंद बता देते हैं कि ऐसा काम उन्होंने योग के बल पर कर डाला था और रायकमलानंद के चरित्र को स्वाभाविक बनाने के लिये ही वह ऐसी योजना करते हैं कि रायसाहब को विष भक्षण करने का बुरा परिणाम भुगतना पड़ता है। विष को हजम करने की शक्ति पर उन्हें गर्व था, पर वे अनुभव करते हैं कि "यह दाह मुझे कुछ दिनों में भस्म कर देगी। मेरे जीवन की अनंत शोभा का अंत हो गया।"

सर्वांगीण चरित्र-चित्रण

पात्रों के शील और गुणों के निरूपण में उपन्यासकार ने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है। पात्रों के चरित्र एकांगीपन के दोष से मुक्त है। उनमें गुण और दोष का समन्वय है। प्रेमशंकर 'देवता' के रूप में दिखाई देते हैं, पर उनमें भी ईर्ष्या और शंका जैसे दोषों का परिचय मिलता है। मनुष्य स्वभाव के अनुरूप वे श्रद्धा के चरित्र पर शंका करते हैं। ज्ञानशंकर अवगुणों की खान हैं। वह हत्या

करने और सतीत्व नष्ट करने से नहीं चूकता परंतु उसमें मनुष्यता का पूर्ण अभाव नहीं है। "त्यागी पुत्र के धर्मज्ञ पिता कहलाने का" सम्मान न पा सकने पर वेहयाई की जिंदगी नहीं बिताना चाहता। उसे सच्चा परिताप होता है और अपने कलंक को वह मृत्यु के पानी से धो देता है। इसी प्रकार सुक्खू जो पहले सिरे का चापलूस और स्वार्थी है, मनुष्य का हृदय रखता है। अत्याचारों से उसका हृदय बदल जाता है और वह जेल काटता है, साधु जीवन बिताता है और अपने गाँव के भाइयों का लगान अदा करके, उनके घर-बार की रक्षा करता है।

मनुष्य में वय और जाति के अनुसार कुछ दुर्गुण और कुछ गुण अवश्य पैदा होते हैं, जैसे बचपन में शरारत, यौवन में उद्दंडता, और वृद्धावस्था में गंभीरता और इसी प्रकार पुरुषों में तर्क, स्त्रियों में भाव आ गये। बलराज नवयुवक है और शक्तिशाली है, तदनुकूल वह स्पष्ट-वादी, निर्भीक और न्यायप्रिय है। लोग बेगार के कष्ट, नजराना आदि सह लेते हैं पर बलराज नहीं सहन कर सकता। ग्राम निवासी तहसील-दार या डिप्टी कलेक्टर साहब के सामने जाने का साहस नहीं कर सकते पर वह निर्भय होकर ज्वालासिंह के पास जाता है। जब उसकी शिकायत सुनकर ज्वालासिंह कहते हैं—

"मुझे इस सिर दर्द की फुरसत नहीं है।"

तो बलराज के तेवर पर बल चढ़ गये। वह निःशंक भाव से कहता है—

"सरकार इसे सिर दर्द समझते हैं और हम लोगों की जान पर बनी हुई है। हजूर यहाँ धर्म के आसन पर बैठे हैं और चपरासी लोग प्रजा को लूटते हैं। मुझे आप से यह बिनती करने का हौसला हुआ, तो इसलिये कि मैं समझता था, कि आप दीनों की रक्षा करेंगे। अब मालूम हुआ कि हम अभागों का सहायक परमात्मा के सिवा और कोई नहीं।"

कादिर मियाँ वृद्ध हैं अनुभवी हैं इसलिये उन्हें क्रोध नहीं आता। वे हर घटना के पहलू पर गंभीरता से विचार करते हैं, यह उनकी उम्र

का प्रभाव है। वे अत्याचारों का विरोध करते हैं पर जहाँ मजबूरी है, वहाँ सहनशक्ति से काम लेते हैं। उनकी सूझ-बूझ और दूरदर्शिता के कारण ही गाँव में शांति बनी रहती है।

मानव चरित्र की दुर्बलताओं का उल्लेख करने में तो प्रेमचंद जी सिद्धहस्त हैं। आखिर स्त्रियाँ हठ करती हैं, इसलिए शीलमणि अपने पति से ज्ञानशंकर के पक्ष में निर्णय देने के लिए जिद करती है। साथ ही स्त्रियाँ बड़ी धर्मभीरु होती हैं। इसी कारण जब ज्वालासिंह उसके सामने गाँव का चित्र खींचते हैं कि "लखनपुर में प्लेग का भयंकर प्रकोप हो रहा है। ज्ञानशंकर डिगरी पाते ही जारी कर देंगे।……… यह दीनों की हाय किस पर पड़ेगी; यह खून किसके गर्दन पर होगा।" तब शीलमणि काँप उठती है और कह देती है—"आप वही कीजिये जो न्याय और सत्य कहे। मैं गरीबों की आह नहीं लेना चाहती।" एक अन्य स्थल पर बिशेसर सांह जो पक्के "बनिये" हैं और धनलिप्सा जिनका मूलमंत्र है, अपना दाम वसूल करने तहसीलदार के पास जाते हैं। पूरा दाम न पाने पर गर्म होते हैं पर ज्यों ही तहसीलदार धमकी देता है—"नाजिर जी, आप चपरासियों को लेकर जाइए, इसके बही-खाते उठा लाइये और इसकी सालाना आमदनी का हिसाब कीजिये।" इसलिये कि वह टैक्स नहीं अदा करता, बस बिसेसर साह यह धमकी सुनते ही बिल्ली बन जाते हैं और "चुपके से सरक जाते हैं।"

चरित्र-चित्रण की पृष्ठभूमि—मनोविज्ञान

प्रेमचंदजी मानव स्वभाव के सच्चे पारखी हैं। वे इस बात को अच्छी तरह समझते हैं किस परिस्थिति में मनुष्य की मनोदशा कैसी हो जाती है। बड़ी बहू के खरी खोटी कहने पर ज्ञानशंकर को बहुत बुरा मालूम होता है, उन्हें बड़ा क्रोध आता है। "उनके हृदय में दाह हो रही थी, इतनी निठुरता इतनी कृतघ्नता! मैं कमीना हूँ, मैं दुश्मन हूँ, मेरी सूरत देखना पाप है।" क्रोध के कारण वे उन लोगों का घमंड तोड़ देना चाहते हैं। यही नहीं, वे अपने भाई का अहित करने के लिये तुल जाते

हैं। मनुष्य को अपना आदर्श बड़ा प्यारा होता है उसे सबसे अधिक दुख उस समय होता है जब उसके आदर्श पर चोट पहुँचती है। लाला प्रभाशंकर परिवार की एकता के हामी हैं। उनका आदर्श है–"हम तो अपनी मान-मर्यादा को प्राणों से प्रिय समझते थे। यदि घर में एक दूसरे का सिर काट लेते तो भी अलग होने का नाम न लेते।" इसलिये जब ज्ञानशंकर अलग होने का प्रस्ताव रखते हैं, तो उन्हें अपार दुख होता है।

मनुष्य स्वभाव से पवित्र होता है; परंतु कुशिक्षा और कुसंगति के प्रभाव से उसका चरित्र कुत्सित हो जाता है। बुरा काम करने की आदत पड़ जाने पर भी मनुष्य की अंतरात्मा उसे धिक्कारती है और कभी-कभी तो अंतरात्मा का सच्चा स्वर इतना सबल पड़ जाता है कि उसे सुन मनुष्य अपने दुर्गुणों को छोड़ देता है। प्रेमचंद जी इस मनोवैज्ञानिक तत्व के हामी हैं। 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर का स्वभाव सबसे अधिक दुष्ट है। उसने अपनी अंतरात्मा को कुचल डाला है परंतु बुरा काम करने पर उसे आत्मिक क्लेश होता है। अपने चचा प्रभाशंकर की सरलता का अनुचित लाभ उठाकर उसे शांति न थी—

"उनकी आत्मा अभी तक उनकी कपट नीति पर उनको लज्जित किया करती थी। ये खातिरदारियाँ उन्हें अपनी कुटिलता की याद दिलाती थीं और उनका चित्त दुखी होता था। अपने चाचा की सरल हृदयता और सज्जनता के सामने अपनी धूर्तता और मलीनता अत्यंत घृणित दीख पड़ती।" इसी अंतरात्मा ने उनको इतना प्रताड़ित किया कि उन्होंने सच्चा प्रायश्चित करने के लिये ही अपनी आत्महत्या कर ली।

प्रेमाश्रम का प्रत्येक पात्र अंतरात्मा की पुकार सुनता है। डा० प्रियनाथ, वकील इर्फान अली, डिप्टी कलेक्टर ज्वालासिंह और गायत्री सभी अपने अंतःकरण से प्रेरणा प्राप्त करके चरित्र का शोधन कर लेते हैं।

मनुष्य स्वभाव को समझना आसान काम नहीं है। वह सोचता कुछ है, संकल्प कुछ करता है और काम कुछ दूसरा ही करता है। सोचने से लेकर काम करने तक उसके मन में भीषण संघर्ष चला करता है। मनुष्य की सद्भावनाओं का प्रेरक उसका अंत:करण है परंतु सुखाभिलाषी होने के कारण उसे कुछ काम ऐसे भी करने पड़ते हैं जिनके कारण अन्त:करण की अवहेलना होती है और उसका अतिक्रमण होता है। प्रेमचंद जी ने इस "करूँ या न करूँ" की भावना को जिसे अंतर्द्वंद्व कहते हैं, बड़ी खूबी से दिखलाया है। चरित्र चित्रण कला की यह जान है। वकील इर्फानअली अपने पेशे वकालत से परेशान हैं। वकालत में जिस प्रकार सत्य और न्याय का गला घोटना पड़ता है, उससे वे तंग आ गये हैं और उनकी अंतरात्मा में भीषण संघर्ष होता है। इसका चित्र देखिये:—

"इर्फानअली उन मनुष्यों में थे जिनकी आत्मा लालसा के नीचे दबकर निर्जीव हो जाती है। वह सदैव अपने इष्ट मित्रों से कठिनाइयों का रोना रोया करते थे और निस्संदेह ये आँसू उसके हृदय से निकलते। वह बार-बार इरादा करते थे, कि इस पेशे को छोड़ दें, लेकिन जुआरियों की प्रतिज्ञा की भाँति उनका निश्चय भी दृढ़ न था। बल्कि दिनों-दिन वह लोभ में और भी डूबते जाते थे......इर्फानअली वकालत छोड़ने के पहले इतना धन कमा लेना चाहते थे कि जीवन सुख से व्यतीत हो।"

इसी प्रकार ज्वालासिंह भी गुलामी से ऊब उठे थे पर वह 'महाशय अभी तक दुविधा में पड़े थे। वह प्रेमशंकर को लिख चुके थे कि त्याग पत्र देकर शीघ्र ही आपकी सेवा में आता हूँ। लेकिन फिर कोई न कोई ऐसी बात आ जाती थी कि उन्हें अपने इरादे को स्थगित कर विवश होना पड़ता था।"

जिस काम में मनुष्य को सुख मिलता है, वह चाहे कितना ही बुरा क्यों न हो, उसे अवश्य करता है यद्यपि कि उसकी अंतरात्मा उसे धिक्कारती है, वह सुनता है, सचेत होता है परंतु सुख लिप्सा

उसे ऐसे ढंग से सुझाती है कि वह उसी बुरे काम का समर्थन तर्कों को उसके पक्ष में बलात् घसीटकर करने लगता है। वही काम यदि दूसरा करे तो उसकी अलोचना करेगा किन्तु स्वयं करते समय उसको वह ठीक ही समझता है। गायत्री ज्ञानशंकर की वासना और स्वार्थपरता का शिकार बनती जाती है। उसे एक अज्ञात सुख का अनुभव होता है, इसीलिए उस कृत्य को वह अनुचित नहीं समझ पाती और उसका समर्थन करती है--

"उसे लेशमात्र भी अनुमान न होता कि यह भक्ति उसे वासना की ओर खींचे लिए जाती थी। वह इस प्रेम के नशे में कितनी ही ऐसी बातें करती थी और कितनी ही ऐसी बातें सुनती थी जिन्हें सुनकर वह पहले कानों पर हाथ रख लेती, जो पहले मन में आतीं तो वह आत्मघात कर लेती, परन्तु अब वह गोपिका थी, वह सदानुराग की साक्षात् प्रतिमा थी। इस आध्यात्मिक उद्धार में वासना का लगाव कहाँ ? ऐंद्रिक तृष्णाओं का मिश्रण कहाँ ?······गायत्री जब ज्ञानशंकर को चंचल चितवनों से ताकती, या उनके सतृष्ण नेत्रों को अपनी मृदुल मुसक्यान सुधा से आप्लावित करती तो वह अपने को गोपिका समझती जो कृष्ण से ठिठोली या रहस्य कर रही हो······ ···इस प्रेम-रहस्य और आमोद-विनोद का चस्का दिनो-दिन बढ़ता जाता था।"

इसी प्रकार ज्ञानशंकर जब रायसाहब की हत्या करने का संकल्प करते हैं, तो यह पाप उन्हें पुण्य नजर आता है-"संसार इसे हिंसा कहेगा, उसकी दृष्टि में यह घोर पाप है—सर्वथा अक्षम्य, अमानुषीय। लेकिन दार्शनिक दृष्टि से देखिये तो इसमें पाप का सम्पर्क तक नहीं। उनके बाल-बच्चे नहीं हैं, जो अनाथ हो जायँगे।··········जायदाद का ह्रास नहीं होगा········समाज और अर्थशास्त्र के सिद्धांतों के अनुसार तो इसे हत्या कह ही नहीं सकते। नैतिक दृष्टि से भी इस पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती। केवल धार्मिक दृष्टि से इसे पाप

कहा जा सकता है और लौकिक नीति के अनुसार तो यह काम केवल सराहनीय ही नहीं परमावश्यक है।..........यहाँ औचित्य का निर्णय हमारी समझ के आधीन है।"

ज्ञानशंकर

ज्ञानशंकर वास्तव में आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा की सच्ची उपज है। आधुनिक शिक्षा के फलस्वरूप नवयुवकों में जिस प्रकार स्वार्थ-परता, अर्थलिप्सा और इन्द्रियलोलुपता बढ़ जाती है, उसी के अशुभ परिणाम इस पात्र में देखने को मिलते हैं।

ज्ञानशंकर एक जमींदार का पुत्र है। वह पाश्चात्य ढंग से शिक्षा प्राप्त करके बी० ए० की डिग्री लेता है और पिता की मृत्यु के बाद अपनी जमींदारी का प्रबंध करना चाहता है। उसका उद्देश्य किसी प्रकार ज्यादा से ज्यादा आमदनी बढ़ाना है, चाहे उससे किसानों का अहित हो, या अपने परिवार वालों का। वह प्रबन्ध की इच्छा अवश्य रखता है। परंतु इसके लिए वह अपने कर्मचारियों पर ही निर्भर रहता है। उपन्यास भर में हमें एक बार भी ऐसा अवसर देखने को नहीं मिलता जब उसने अपनी जमींदारी का दौरा किया हो और अपने असामियों का सुख-दुख पूछा हो। गौसखाँ और फैजू उसकी नकेल जिधर घुमा देते हैं, उसी तरफ वह घूम जाता है।

ज्ञानशंकर में दम्भ की मात्रा बहुत अँशों में है। वह अपने को सबसे अधिक योग्य समझता है। यह दम्भ इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह अपने पितृ तुल्य पूज्य चाचा प्रभाशंकर का निरादर करता है और सबके सामने अपमान भी कर डालता है। उनसे वह इस प्रकार सवाल जवाब करता है मानो वे एक साधारण कर्मचारी हों—

ज्ञानशंकर ने चाचा की ओर देखकर पूछा—आपके अधिकांश आसामी दखलदार क्यों हो गये ?

प्रभाशंकर ने उदासीनता से कहा—जो कुछ किया होगा इन्हीं कारिन्दों ने किया होगा, मुझे क्या खबर ?

ज्ञानशंकर (व्यंग्यसे)–तभी तो इलाका चौपट हो गया।

इस वार्तालाप में नौबत यहां तक आ पहुँचती है कि वह प्रभाशंकर का खुला अपमान कर डालता है –

"आप मेरे बीच में क्यों बोलते हैं ?...अगर आप इस तरह मेरे कामों में हस्तक्षेप करते रहेंगे तो मैं इलाके का प्रबंध कर चुका। अभी आपने वचन दिया है कि इलाके से कोई सरोकार न रक्खूँगा। अब आपको बोलने का अधिकार नहीं।"

ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध जैसे अवगुण ज्ञानशंकर में कुछ भी हों पर वह बात बनाने में बड़ा चतुर है। किसी मौके पर बिगड़ती हुई बात बना लेने में वह इतना पटु है कि लोगों को आश्चर्य होता है। अपने चाचा का अपमान कर चुकने के बाद, जब वह यह देखता है कि उसके मित्र ज्वालासिंह और उसके कर्मचारियों पर उसके अभद्र व्यवहार का प्रभाव बुरा हुआ तो वह विचित्र तरीके से काम लेता है और अपने वचन को लीप पोत देता है—

"अधिकार से मेरा यह आशय नहीं था जो आपने समझा। मैं केवल यह कहना चाहता था कि जब आपने इलाके का प्रबंध मेरे सुपुर्द कर दिया है, तो मुझी को करने दीजिये। यह शब्द अनायास मेरे मुँह से निकल गया। मैं इसके लिए बहुत लज्जित हूँ। भाई ज्वालासिंह, मैं चाचा साहब का जितना अदब करता हूँ उतना अपने पिता का भी नहीं किया।" यद्यपि यह बात स्पष्ट है कि चाचा के प्रति उनकी क्या भावनाएँ थीं।

ज्ञानशंकर को अपनी ईर्ष्या और द्वेष पर न्यायप्रियता और राष्ट्र-हित का रंग चढ़ाने की कला का अच्छा ज्ञान है। हजरत जाते हैं ज्वालासिंह के पास इसलिए कि दयाशंकर का अहित हो, पर कहते इस तरह हैं मानों वे न्याय चाहते हैं—"यद्यपि मुझे दयाशंकर से उतनी ही सहानुभूति है जितनी भाई की भाई के साथ होती है तथापि मैं इतना दुष्ट नहीं हूँ कि मित्रता से अनुचित लाभ उठाकर न्याय का बाधक बनूँ।" जब ज्वालासिंह उसके दुष्ट भावों को पहचान कर कह देते हैं

कि मुझे संदेह होता है कि दयाशंकर का मुक्त होना आपको अच्छा नहीं लगा" तो वह प्रत्युत्तर में बड़ी चतुराई से कहता है—यह कहने में मुझे संकोच नहीं कि भातृस्नेह की अपेक्षा मेरी दृष्टि में राष्ट्रहित का महत्व कहीं अधिक है और जब इन दोनों में विरोध होगा तो मैं राष्ट्रहित की ओर झुकूंगा।"

ज्ञानशंकर और उसकी पत्नी के सम्बन्ध बड़े ही निराशाजनक हैं। पति-पत्नी में सेवा की जो मधुर और प्रिय भावना होती है, उसकी झलक तक नहीं दिखाई देती। वह अपनी पत्नी की नजरों में आदि से अंत तक गिरा ही रहता है। वह बेचारी इसके कारण ही विष खाकर आत्म हत्या करती है। शिक्षा उसकी आत्मा का संस्कार नहीं कर पायी। पत्नी के प्रति उसका व्यवहार पशुवत् होता है—

'ज्ञानशंकर उसे झिड़क दिया करते थे। वह इतने शिक्षित होकर भी स्त्री का आदर उससे अधिक न करते थे जितना अपने पैर के जूतों का। अतएव उनका दाम्पत्य जीवन भी जो चित्त की शांति का एक प्रधान साधन है, सुखकर न था।'

अपनी सुशीला पत्नी का अपमान वह प्रत्येक स्थल पर करता है।

ज्ञानशंकर के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है, उसकी स्वार्थ-परता। अपना मतलब साधने में वह बड़ा सिद्धहस्त है। वह अपने परिवार से अलग इसलिए होना चाहता है कि उसे अधिक से अधिक सुविधा मिले। राय कमलानन्द के पुत्र की मृत्यु से उसे सुख हुआ। 'यह निर्दय प्रहार ज्ञानशंकर को सुखद पुष्प वर्षा के तुल्य जान पड़ा। उन्हें क्षणिक शोक अवश्य हुआ, किन्तु तुरन्त ही हृदय में नयी-नयी आकाँक्षायें तरगें भरने लगीं।' अपने स्वार्थ के मार्ग में वह प्रेमशंकर को सबसे बड़ा काँटा समझता है अपने भाई को काबू में लाने के लिये, 'मुँह में राम बगल में छुरी' वाली नीति का पालन करता है— 'बिरादरी इन महाशय को पैर तो रखने देगी नहीं, ये बेचारे मुझसे क्या छेड़छाड़ करेंगे ?………उनके वहाँ पैर न जमने पायेंगे। प्रकट

में मैं उनसे भ्रातृवत् व्यवहार करता रहूँगा और परोक्ष में उसकी कील घुमाता रहूँगा······शायद श्रद्धा भी उनसे खिंच जाय। बस मेरा मैदान साफ है।' वह इतना नीच है कि प्रेमशंकर की सद्भावनाओं का गलत अर्थ लगाता है। सच ही कहा गया है कि 'द्विषन्ति मन्दाः चरितं महात्मनाम्'। प्रेम का क्षेत्र इतना पवित्र है कि वहाँ दुष्ट से दुष्ट मनुष्य भी पवित्र हृदय बन जाता है पर हमारे बाबू ज्ञानशंकर को जरा भी हवा नहीं लगती। वह गायत्री से इसलिये प्रेम करते हैं कि एक बड़ी रियासत उनके हाथ लगेगी। इसी प्रकार अपनी पत्नी के प्रति उनके हृदय में जरा भी आदर नहीं था पर राय कमलानन्द के पुत्र की मृत्यु के बाद चूँकि वही उत्तराधिकारिणी हो सकती थी, इसलिये उसके प्रति उनके हृदय में प्रेम उमड़ आया। 'अब वह विद्या का निरादर तथा उसकी अवहेलना न कर सकते थे।'

गायत्री के प्रति ज्ञानशंकर का प्रेम वासना-प्रधान है। उसमें त्याग और सेवा जैसे महान् भाव का तनिक भी अंश नहीं है। इस तत्व को उनकी पत्नी विद्या ने अच्छी तरह समझा। वह कहती है कि 'अभी तक मैं यही समझती थी कि गायत्री के रंग-रूप,बनाव-चुनाव, बातचीत ने मोहित कर लिया है। वह निंद्य कर्म होने पर भी घृणा के योग्य नहीं है।' गायत्री के रूप-रंग और यौवन ने उसे मुग्ध कर लिया। 'उसका मन केवल प्रेमवासनाओं का आनन्द न उठाता था, वह गायत्री की अतुल सम्पत्ति का भी सुख़-भोग करता था।' गायत्री के सरल व्यवहार में उसे काम चेष्टायें प्रतीत होती हैं। अपनी वासना की तृप्ति के लिये वह मौके पर नहीं चूकता। थियेटर से गायत्री के साथ घर लौटते समय, वह भ्रमवश अपनी प्रवृत्तियों के वेग में इस तरह बह जाता है कि उसके सतीत्व को नष्ट करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार 'वैद्य-लीला' खेलते समय उसकी काम-प्रवृत्ति उदीप्त हो जाती है। वहाँ भी वह अपना मतलब साधने की चेष्टा करता है। उसका हृदय निर्बल है, इसलिये कि उसके मन में पाप है। यही कारण है कि

रायसाहब की भोगशक्तियों के आगे उसकी कुछ नहीं चलती। वह उससे सब कुछ कहला लेते हैं। ज्योंही रायसाहब ने ज्ञानशंकर को फिर चुभती हुई दृष्टि से देखा और कड़ी आवाज में बोले—तुम्हें सच कहना होगा।' त्योंही ज्ञानशंकर दीनभाव से कह देता है—जी हाँ सच कहूँगा।

राय—तुमने यह जाल किसके लिये फैलाया है।

ज्ञान—गायत्री के लिए।

राय—तुम उससे क्या चाहते हो ?

ज्ञान—उसकी सम्पत्ति और उसका प्रेम।

ज्ञानशंकर पहले सिरे का निर्लज्ज है। बुरा काम करने के पश्चात् जब वह खुल जाता है तो बड़ी बेशर्मी के साथ उसे बनाने की चेष्टा करता है। रायसाहब को जहर देने के पश्चात् जब उसे पता चलता है कि रायसाहब जान गये, तो उनके पैरों पर गिर पड़ता है। वह भाग कर बनारस चला जाता है। उसे गायत्री से भी डर लगता है कि शायद रायसाहब ने उसे लिख दिया हो पर गायत्री से पत्र प्राप्त करने पर जब उसे मालूम होता है कि विष देने का रहस्य अज्ञात है तो वह रायसाहब की बुराई बतला कर अपने को बचाना चाहता है—'मैंने रायसाहब की संगीत परिषद् के विषय में कुछ स्पष्ट भाषण किया था, उसका फल यह हुआ कि अब वे मेरी जान के दुश्मन हो गये हैं...... उन्होंने मुझे मारने के लिये पिस्तौल हाथ में ले लिया था......इतना ही नहीं, मुझे आप से पृथक रहने की आज्ञा मिली है।' इसी प्रकार जब विद्या उसे गायत्री से आलिंगन करते हुए पकड़ लेती है, तब वह बड़ी धृष्टता से जवाब देता है—'तुमको बिना आज्ञा किसी के कमरे में आने का क्या अधिकार है ?'

वह ढोंग रचना भी खूब जानता है। गायत्री को वश में करने के लिये वह सोचता है—'गायत्री के धार्मिक भावों को हटाना, जो किसी गढ़ की दुर्भेद्य दीवारों की भाँति उसको वासनाओं से बचाये हुये थे, दुस्तर था......उन धार्मिक भावों को हटाने के बदले उन्हें और दृढ़

क्यों न कर दूँ ? इमारत को विध्वंस करने के बदले उसी भित्ति पर रद्दे चढ़ा दूँ ? उसको अपना बनाने के बदले, क्यों न आप ही उसका हो जाऊँ ?'

इसके लिये वह खूब ढोंग रचता है। अब वह नित्य संध्या समय भागवत की कथा सुना करते······दो चार साधु संत सज्ज· आ बैठते, यहाँ कृष्ण भगवान की चर्चा होती, उनकी प्रेम कथा सुनाई जाती······ लोग प्रेम मग्न होकर रोने लगते।' 'ज्ञानशंकर के आचार व्यवहार, रंग ढग में भी अब विशेष अंतर दीख पड़ता था। सिर पर बड़े-बड़े केश थे, बूट की जगह प्रायः खड़ाऊँ, कोट के बदले एक ढीला ढाला घुटनियों से नीचे तक का गेरुये रंग में रँगा हुआ कुरता पहनते थे।

ज्ञानशंकर मित्रों में जब बैठते तो वाद-विवाद में अपना आदर्श रूप सामने रखने की चेष्टा करते परन्तु समाज की रूढ़ियों को छिन्न करने की उनमें जरा भी शक्ति नहीं। इसी कारण वह अमेरिका से लौटे हुये अपने भाई प्रेमशंकर को अपना नहीं सकते। उन्हें चीनी मिट्टी की तश्तरी में भोजन परोसते हैं। तर्क द्वारा किसी बात को उचित समझते हुए भी उनमें इतना साहस नहीं है कि व्यावहारिक रूप में उसका प्रयोग कर सकें। प्रेमशंकर के पूछने पर—'आखिर बात क्या है कि तुम्हें मेरे साथ बैठने में इतनी आपत्ति है ? कुछ छूतछात का विचार तो नहीं ?,' वह झेंपते हुए कहते हैं:—

'अब आप से क्या कहूँ; हिन्दुओं को तो आप जानते ही हैं, कितने मिथ्यावादी होते हैं।······मुझे स्वयं विदेश यात्रा में कोई आपत्ति नहीं है, मैं देश और जाति की उन्नति के लिये इसे जरूरी समझता हूँ और स्वीकार करता हूँ कि इस नाकेबन्दी से हमको बड़ी हानि हुई है, पर मुझमें इतना साहस नहीं कि बिरादरी से विरोध कर सकूँ।'

जिस तरह अनेक नवयुवक अपनी अकर्मण्यता और कायरता को सत्य सिद्ध करने के लिए गलत तर्क प्रणाली का आश्रय लेते हैं, उसी

तरह ज्ञानशंकर भी आचरण करता है । वह संकल्प करता है रायसाहब की हत्या का जो अत्यन्त निंदनीय है पर उसके लिये तर्क कैसे देता है—

'संसार इसे हिंसा कहेगा, उसकी दृष्टि में यह घोर पाप है……… लेकिन दार्शनिक दृष्टि से देखिये तो इसमें घोर पाप का सम्पर्क तक नहीं है।………समाज और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार तो इसे हत्या कह ही नहीं सकते । नैतिक दृष्टि से भी इस पर कोई आपत्ति नहीं हो सकती है।' सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों को नष्ट करने की क्षमता आप में नहीं है मगर उसके लिए बड़ी आकर्षक दलील देते हैं—

'इसे आप मेरी आत्मा की भीरुता या अकर्मण्यता समझें, किंतु मैं बहुमत के साथ चलना अपना कर्तव्य समझता हूँ । मैं बल प्रयुक्त सुधार का कायल नहीं हूँ। मेरा विचार है कि हम बिरादरी में रहकर, उसका कहीं अधिक सुधार कर सकते हैं, जितना स्वाधीन होकर ।'

ज्ञानशंकर का चरित्र ऐसा है कि जिस पर पाठक के मन में जरा भी श्रद्धा नहीं होती । फिर भी उसमें मनुष्यत्व है, कुसंस्कारों ने उसकी बुद्धि पर परदा डाल दिया है परन्तु उसका विवेक उसका साथ नहीं छोड़ता । बुरा काम करने के पश्चात उसको बड़ी ग्लानि होती है । वह दुखी होता है और रोता भी है। गायत्री के साथ प्रवृत्तिवश कुचेष्टा करने के बाद जब उसकी अंतरात्मा जाग्रत हो उठी तो उसे 'अपनी अधमता का ज्ञान हुआ । ग्लानि और अनुताप के भी शब्द मुँह तक आये पर व्यक्त न हो सके। गायत्री की ओर देखने का भी हौसला न पड़ा । अपनी मलिनता और दुष्टता, अपनी दृष्टि में घृणित मालूम होने लगी । हा ! मैं कैसा दुरात्मा । मेरे विवेक, ज्ञान और सद्विचार ने आत्महिंसा के सामने सिर झुका दिया । मेरी उच्च शिक्षा और उच्चादर्श का यही परिणाम होना था । अपने नैतिक पतन के ज्ञान ने आत्मवेदना का संचार कर दिया। उनकी आँखों से आँसू की धारा प्रवाहित हो गयी ।'

वह पश्चात्ताप की भावना इतनी बलवती होती है कि वे आत्महत्या करके अपने जीवन भर के पापों का प्रायश्चित कर लेते हैं।

उपन्यास भर में ज्ञानशंकर में एक गुण और देखने को मिलता है। वह है उनकी लेखन-शक्ति जिसके बल पर वह रायसाहब और गायत्री को अपना प्रशंसक बना लेते हैं और ज्वालासिंह से बदला भी ले लेते हैं। इसी तरह नैनीताल में वे अपने विरोधियों को नीचा दिखाने में समर्थ होते हैं।

'जब ज्ञानशंकर ने अपने विचारों को एक प्रसिद्ध अँग्रेजी पत्रिका में प्रकाशित कराया तो सारे नैनीताल में हलचल मच गई। जिसके मस्तिष्क से ऐसे उत्कृष्ट भाव प्रकट हो सकते थे, उसे झक्की या बक्की समझना असंभव था। शैली ऐसी मार्मिक थी कि लोगों को उसकी चोटों में भी आनन्द आता था......लेख में ऐसे कटाक्ष थे कि उसके कितने ही वाक्य लोगों की जबान पर चढ़ गये थे।'

उनकी लेखनी ने ज्वालासिंह को 'अत्याचार और अविचार का काला देव बना दिया।' बेचारे की बदली करवा कर और पद घटवा कर छोड़ा।

अन्त में लेखक की कुशल लेखनी द्वारा ज्ञानशंकर के चरित्र का सच्चा विश्लेषण हुआ है। उनके चरित्र में इतने अधिक दोषों के आ जाने के कारण हमारी समझ में स्पष्ट रूप से आ जाते हैं—

'बाबू ज्ञानशंकर अगर अब तक स्वार्थी और लोभी थे तो यह परिस्थितियों का फल था। भूखा आदमी उस समय तक कुत्ते को कौर नहीं देता, जब तक वह स्वयं संतुष्ट न हो जाय। असम्पन्नता ने उनकी श्यामलता को और भी कुलुषित कर दिया था। उन्होंने ऐसे घर में जन्म लिया था, जिसने कुल मर्यादा की रक्षा में अपनी श्री का अंत कर दिया था। ऐसी अवस्था में उन्हें संतोष से ही शांति मिल सकती थी; पर उनकी उच्च शिक्षा ने उन्हें जीवन को एक वृहत्-संग्राम-क्षेत्र समझना सिखाया था।......इसमें संदेह नहीं कि इस शिक्षा ने उन्हें लेख

और वाणी में प्रवीण, तर्क में कुशल, व्यवहार में चतुर बना दिया था; पर इसके साथ ही उन्हें स्वार्थ और हित का दास भी बना दिया था।'

यह ज्ञानशंकर के चरित्र की सच्ची आलोचना है।

प्रेमशंकर

प्रेमशंकर और ज्ञानशंकर दोनों भाई हैं पर दोनों के स्वभावों में पूरा वैषम्य है। एक भाई गंभीर सागर है, तो दूसरा तलैया। एक घृणा के योग्य है और दूसरा पूजा के योग्य।

प्रेमशंकर का प्रथम परिचय यों मिलता है कि उन्होंने भी बी० ए० पास किया था। आगे पढ़ने की इच्छा थी पर अपने चाचा से विरोध पाकर, निराश हुये और घर छोड़ कर भाग निकले। उनका पूरा परिचय हमें तब मिलता है, जब वे अमेरिका से लौटकर आते हैं।

प्रेमशंकर के व्यक्तित्व की विशेषता है उनकी सादगी। उन्हें तड़क, भड़क और दिखावा पसंद नहीं है। अमेरिका से उच्च शिक्षा प्राप्त करके लौटने पर उनको तनिक भी गर्व नहीं है। वे तीसरे दर्जे के डिब्बे में बैठ कर रेलयात्रा करते हैं। ज्ञानशंकर का ख्याल था कि 'भाई साहब के साथ बहुत आडम्बर होगा, ठाट-बाट के साथ आते होंगे, पर उनके वस्त्र और सफर का सामान मामूली था।' सामान ले चलने के लिये ज्ञानशंकर कुलियों का मुँह ताकते हैं परन्तु प्रेमशंकर अपना सामान खुद उठाकर चल देते हैं। परिश्रम करने में उन्हें कभी भी संकोच नहीं होता। वे सादा जीवन उच्च विचार के सिद्धांत के पक्ष-पाती हैं, इसीलिए अमेरिका जाकर उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे कहते हैं—'सत्य तो यह है कि अमेरिका से दिनोंदिन अभक्ति होती जाती थी। वहाँ धन और वैभव की इतनी क्रूर लीलायें देखीं कि अंत में उनसे घृणा हो गयी। यहाँ के देहातों और छोटे शहरों का जीवन उससे कहीं सुखकर है। मेरा विचार भी सरल जीवन बिताने का है।'

प्रेमशंकर राष्ट्रीय विचारों के पोषक हैं। देश सेवा की भावना उनमें विद्यार्थी जीवन से थी। वे स्वराज्य आंदोलन में शरीक होते हैं और

लगन से काम करने के कारण पुलिस की नजरों में चढ़ जाते हैं। परिणाम स्वरूप उन्हें देश त्याग करके अमेरिका भाग जाना पड़ता है। स्वराज्य प्राप्ति के मूल तत्व को वे समझते हैं। केवल लम्बे चौड़े व्याख्यान देने और अराजकता फैलाने से स्वतंत्रता प्राप्त करना कठिन है। इसके लिये जनता को संगठित करना आवश्यक और संगठन के लिये रचनात्मक कार्य पर जोर देना उचित है। जन साधारण के सम्पर्क में आकर उनमें जाग्रति उत्पन्न करना आवश्यक है और इसके लिए उनके सुख-दुख में समभाग लेना अभीष्ट है। प्रेमशंकर यही करते हैं। देश की उन्नति कृषक समाज की उन्नति पर निर्भर है क्योंकि देश में अस्सी प्रतिशत लोग कृषक हैं। प्रेमशंकर अपना कर्मक्षेत्र उन्हीं के बीच में चुनते हैं। इस प्रकार वे राष्ट्रीय उन्नति के सच्चे पहलू को समझते हैं।

प्रेमशंकर भारत में 'कृषि की समस्या' की जटिलता को सुलझाने में समर्थ सिद्ध होते हैं। प्रायः विदेशों में आधुनिक ढंग की वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करके लौटे हुए विद्यार्थियों में एक अजीब प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। वे भारतीय किसानों की साधन-विहीनता, निर्धनता और असमर्थता की बात भूल जाते हैं और अमेरिका में जो वैज्ञानिक विकास की चरम सीमा हो चुकी है, उसी पैमाने से भारत में काम आरम्भ करना चाहते हैं। फलतः उन्हें असफल होना पड़ता है। प्रेमशंकर भी पहले यही भूल करते हैं। कृषि-सुधार की योजना के लिए उन्हें लाखों रुपयों की जरूरत पड़ जाती है जिसके लिए उन्हें धनी वर्ग का मुंह ताकना पड़ता है। अंत में वे समस्या के व्यावहारिक पहलू को समझ लेते हैं। भारतीय किसान के पास जो साधन मौजूद हैं, पहले उन्हीं का प्रयोग करते हुए, जो कुछ बुराइयाँ हैं, उन्हें दूर करके खेती द्वारा उपज बढ़ाई जाय, यह बात व्यावहारिक है और इसी का वे अनुमान करते हैं। वे एक परती जमीन लेकर उसे उपजाऊ बनाते हैं और उससे अच्छी उपज भी होती है। इस प्रकार से किसानों के सामने एक ऐसा आदर्श रखते हैं जो व्यावहारिक है।

प्रेमशंकर में सेवा की भावना प्रधान है। दीन-दुखियों की सहायता करने के लिए वे सदैव तैयार रहते हैं और उनके दुख और कष्ट के आगे अपने सुख और आराम को भूल जाते हैं। जन-सेवक में जैसी लगन, दृढ़ता, अध्यवसाय, और निर्भीकता होती है, वह हमें प्रेमशंकर में देखने को मिलती है—गाँव में बाढ़ आने पर, जब वे प्रलय की विनाशकारी लीला देखते हैं, तो उनसे नहीं रहा जाता। वे स्वयं दौड़ कर जाते हैं और बड़े बूढ़ों की रक्षा में अकथनीय परिश्रम करते हैं। लखनपूर के किसानों के मुकदमे में वह पूरी रुचि लेकर काम करते हैं। मुकदमे की पैरवी करने में वह अपना धन जो खेती करने के लिए जुटा रक्खा था खर्च कर डालते हैं। डा० इर्फानअली और प्रियनाथ को बचाने के लिये वह उत्तेजित जनता के क्रोध का शिकार बन जाते हैं। उन्हें गहरी चोट लगती है।

त्याग और सेवा की भावना उसी के हृदय में घर कर सकती है, जिसे 'मनुष्य' से सच्चा प्रेम है, जिसके लिये सारी वसुधा कुटुम्बवत् है और जो राग, द्वेष और हर्ष से परे है। प्रेमशंकर के हृदय में किसानों के प्रति सत्प्रेम है, इसलिये उनके प्रति उनमें सच्ची हमदर्दी है जब वे अन्य गाँववालों के साथ हत्या के सिलसिले में कैद हो जाते हैं, तो उनके चाचा प्रभाशंकर उनकी जमानत कर लेते हैं पर प्रेमशंकर उसे मंजूर नहीं करते, उनके कथन में अपने किसान भाइयों के प्रति उनके अथाह प्रेम का परिचय मिलता है—

"मेरे छूटने से इन बेचारों की हिम्मत टूट जायगी, ये सब हताश हो जायेंगे; इसलिये मेरा इनके साथ रहना परमावश्यक है। मुझे यहाँ कोई कष्ट नहीं है मैं परमात्मा को धन्यवाद देता हूँ कि उसने मुझे इन दीनों को तसकीन और तसल्ली देने का अवसर प्रदान किया।"

वे उनके लिये दिन रात दौड़ते, जेल में भोजन तक पहुँचाते हैं और अपमान तक सहते हैं। अभियुक्तों के जेल होने पर उनकी मनोदशा का चित्र देखिये—

"प्रेमशंकर चिंता और शोक की मूर्ति बने एक वृक्ष के नीचे खड़े सकरुण नेत्रों से मोटर की ओर ताक रहे थे जैसे गांव की स्त्रियाँ सिवान पर खड़ी स्थिर नेत्रों से ससुराल जानेवाली लड़की की पालकी को देखती हैं।"

प्रेमशंकर पूर्ण रूप से अहिंसा के पक्षपाती हैं। वे खून खराबे में विश्वास नहीं करते। जन-समाज उनके पीछे चलता है। वे गाँधी जी के इस सिद्धान्त के अनुयायी हैं कि पाप से घृणा करो, पापी से नहीं। वे एक स्थल पर, जब डा० इर्फानअली के स्वार्थवश किसानों के मुकदमे की पैरवी छोड़ देने पर जिसके कारण उन्हें जेल हो जाती है, जनता क्षुब्ध होकर दण्ड देने के लिये तैयार हो जाती है और लोग क्रोधोन्मत्त होकर कहते हैं—

प्रेम०—"खून इनकी गर्दन पर नहीं, इनके पेशे की गर्दन पर है।"

वे जनता को डा० इर्फानअली और डा० प्रियनाथ का कोई अनिष्ट नहीं करने देते। अन्य स्थल पर जब एक तहसीलदार महोदय किसानों से मनमानी बेगार लेते हैं और सख्ती करते हैं, उस समय प्रेमशंकर वहाँ पहुँच जाते हैं। उस समय बिगड़ी हुई स्थिति को उनके सिवा दूसरा नहीं सँभाल सकता था—

"प्रेमशंकर ने देखा गाँववालों के चेहरे रोष से विकृत हो रहे थे। प्रतिक्षण शंका होती थी कि इनमें से कोई प्रतिकार न कर बैठे········ तुरंत अपने कर्तव्य का निश्चय कर लिया। गाँववालों की ओर रुख करके बोले, तहसीलदार साहब का हुक्म मानो। एक आदमी भी यहाँ से न जाय। सब आदमियों को मुंह माँगी मजदूरी दी जायगी।" "यह शब्द सुनते ही सारे आदमी ठिठक गये··············सारा काम ऐसी शान्ति से होने लगा, मानो कुछ हुआ ही न था।"

प्रेमशंकर जनता के सच्चे प्रतिनिधि हैं क्योंकि उन्हें, उनकी विपत्तियों, कष्टों और असुविधाओं की पूरी जानकारी है। साथ ही जनता

को उन पर पूरा विश्वास भी है। स्थानीय राजसभा के सदस्यों के चुनाव में ज्ञानशंकर को बड़ी दौड़-धूप करनी पड़ती है परंतु प्रेमशंकर को प्रतिनिधित्व बड़ी आसानी से मिल जाता है। प्रेमाश्रम के द्वारा वे सच्ची जन जाग्रति पैदा करते हैं और जनता उन्हें राजसभा में भेज देती है।

प्रेमशंकर धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़ियों और परम्पराओं के विरोधी हैं क्योंकि इनसे मनुष्य के ज्ञान के विकसित होने में बाधा पहुँचती है। साथ ही यह मनुष्य की विचारशक्ति को कुंठित करके अज्ञानी और मूर्ख बना देते हैं। इनके कारण ही भारतीय समाज ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में पिछड़ गया है। वे इन अवगुणों का विरोध करते हैं। उनके भाई तेजशंकर और पद्मशंकर जादू और मंत्र पर विश्वास करते हैं। वे समझते हैं कि "मंत्र में इतनी शक्ति है कि चाहें तो अभी गायब हो जायँ, जमीन में गड़ा हुआ धन देख लें आदि।"

प्रेमशंकर इन अंधविश्वासों की पोल खोलते हुये कहते हैं—

"यह सब गपोड़ा है, खेद है कि तुम विज्ञान पढ़कर इन गपोड़ों पर विश्वास करते हो। संसार में सफलता का सबसे जागता हुआ मंत्र अपना उद्योग, अध्यवसाय और दृढ़ता है, इसके सिवा और सब मंत्र झूठे हैं।"

अंधविश्वास और रूढ़िवादिता के विरोध के कारण यह श्रद्धा की नजरों में गिर जाते हैं पर अपने सिद्धांतों से डिगते नहीं हैं। प्रेमशंकर विदेश-गमन को पाप नहीं समझते; पर श्रद्धा प्रचलित अंधविश्वास के कारण उसे पाप समझती है और उन्हें 'प्रायश्चित' करने की शर्त बताती है। प्रेमशंकर स्पष्ट कह देते हैं—

मुझसे वह काम करने को कहती हो, जो मेरे सिद्धांत और विश्वास के सर्वथा विरुद्ध है। मेरा मन इसे कदापि स्वीकार नहीं करता कि विदेश यात्रा कोई पाप है। ऐसी दशा में प्रायश्चित की शर्त लगाकर तुम मुझ पर अन्याय कर रही हो।"

प्रेमशंकर की पत्नी श्रद्धा का उनके जीवन में क्या स्थान है, बिना इसे समझे प्रेमशंकर के व्यक्तित्व की पूरी कल्पना हम कर ही नहीं सकते। ज्ञान-विज्ञान और तर्क के क्षेत्र तक सीमित रहने से जीवन में एक शुष्कता और नीरसता आ जाती है यदि मनुष्य में केवल प्रेम जैसा महान गुण न हो, तो जीवन का आकर्षण ही नष्ट हो जाता है। इसलिए श्रद्धा के प्रति स्थायी प्रेम के कारण प्रेमशंकर का चरित्र चमक उठा है। श्रद्धा के प्रति उनका ममत्व, उनका प्रेम और उनके मिलने की इच्छा प्रशंसनीय है। 'श्रद्धा से प्रेम उनके लौटने का मुख्य कारण था। उसकी याद उन्हें हमेशा तड़पाया करती थी, उसकी प्रेममूर्ति सदैव उनके नेत्रों के सामने रहती थी।' श्रद्धा अपने अंधविश्वास के कारण उन्हें अपना नहीं सकती और उन्हें ग्रहण करने में संकोच करती है। इससे उन्हें निराशा होती है परन्तु उनका हृदय नहीं मानता। अपने प्रेम को व्यक्त करते हुये वे सच्चे हृदय से कहते हैं—'श्रद्धा, मैं तुमसे सत्य कहता हूँ मेरी कितनी बार यह इच्छा हुई कि फिर अमेरिका लौट जाऊँ; किंतु आशा का सूक्ष्म, काल्पनिक बंधन पैरों में बेड़ियों का काम करता रहा। मैं सदैव अपने चारों ओर तुम्हारे प्रेम और सत्यव्रत को फैले हुये देखना चाहता हूँ। मेरे आत्मिक अंधकार में यही ज्योति दीपक का काम देती है। मैं तुम्हारी सदिच्छाओं को किसी सघनवृक्ष की भाँति अपनें ऊपर छाया ढालते हुये अनुभव करता हूँ।' एक प्रेमी के ये सच्चे हृदयोद्गार हैं। श्रद्धा का उनसे मिलन नहीं हो पाता, इसके लिये वे उस पर रोष नहीं प्रकट करते। वे एक भारतीय नारी के हृदय से जो प्रेम की अपेक्षा धर्म और कर्तव्य को उँचा स्थान देता है, अच्छी तरह परिचित हैं। वे समझते हैं—

'मैंने अपने सिद्धांत प्रेम और आत्मगौरव के घमंड में, इसके विचारों की अवहेलना की, इसके मनोभावों को पैरों से कुचला, इसकी धर्मनिष्ठा को तुच्छ समझा। जब सारी बिरादरी मुझे दूध की मक्खी समझ रही है, जब मेरे विषय में नाना प्रकार के अपवाद फैले हुये हैं,

जब मैं विधर्मी, नास्तिक और जातिच्युत समझा जा रहा हूँ, तब एक धार्मिक वृत्ति की महिला का मुझसे विमुख हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था।'

और जब श्रद्धा धार्मिकता पर आघात पहुँचने के कारण आत्म-हत्या के लिये तैयार होती है, तो प्रेमशंकर उसे बचाते हैं।

प्रेमशंकर में देवत्व प्रधान है और उनका व्यक्तित्व गाँधीवाद की उपज है। गाँधी जी के विचारों और उनके सिद्धांतों की स्पष्ट छाप उनके चरित्र में देखने को मिलती है।

रायकमलानंद

प्रेमाश्रम भर में सबसे विचित्र चरित्र रायकमलानंद का है। उनमें यौगिक शक्तियाँ हैं पर वे योगी नहीं हैं। उन्होंने अपनी ये शक्तियाँ सुखोपभोग करने के लिये अर्पण की थीं। वे रायसाहब थे, उनके पास धन और वैभव था। इस तरह वे भोग और योग दोनों का आनन्द एक साथ ले रहे थे।

'राय कमलानंद बहादुर लखनऊ के एक बड़े ताल्लुकेदार थे। वार्षिक आय एक लाख के लगभग थी········रायसाहेब बड़े रसिक पुरुष थे। घुड़दौड़ और शिकार, सरोद और सितार से उन्हें समान प्रेम था। अवस्था लगभग ६० वर्ष के थी पर इन विषयों में उनका उत्साह लेशमात्र भी क्षीण न हुआ था। अस्तबल में दस बारह चुने हुये घोड़े थे, विविध प्रकार की कई बग्घियाँ, दो मोटरकार, दो हाथी, दर्जनों कुत्ते पाल रक्खे थे·····चिड़ियों की एक हवाई सेना भी थी········ उनके दीवानखाने में मानों शस्त्रालय है।·····काव्यकला में भी उनकी कुशलता और मार्मिकता कवियों को लज्जित कर देती थी, उनकी रचनायें अच्छे अच्छे कवियों से टक्कर लेती थी। संस्कृत, फारसी, हिंदी, उर्दू, अँग्रेजी सभी भाषाओं के वे पंडित थे। स्मरण शक्ति विलक्षण थी········इधर ११-१२ वर्षों से राजनीति में भी वे प्रविष्ट हो गये थे। कौंसिल भवन में उनका स्थान प्रथम श्रेणी में था। उनकी

राय सदैव निर्भीक होती थी……राष्ट्र या शासन के दास न बनकर सर्वदा अपनी विचार शक्ति से काम लेते थे।'

रायसाहब के पास अपरिमित साधन हैं पर उनका वह बेजा इस्तेमाल कभी नहीं करते। इन्द्रिय-सुख का रस लेते हुए भी वह इन्द्रियों को वश में करना जानते हैं। इसी के फलस्वरूप उन्हें यौगिक शक्तियाँ प्राप्त हो गयी हैं जो उनके व्यक्तित्व की शोभा हैं। उनकी इन्हीं शक्तियों को जान कर हम उन्हें किसी दूसरे लोक का प्राणी समझने लगते हैं। वे कहते हैं—

'मैं गर्मी में आग खाता हूँ और आग ही पीता हूँ, मैं शिव और शक्ति का उपासक हूँ। विष को दूधघी समझता हूँ। जाड़े में हिमकणों का सेवन करता हूँ और हिमालय की हवा खाता हूँ।'

यह उनका मिथ्या प्रलाप नहीं है। अपनी शक्ति का वे परिचय भी देते हैं। ज्ञानशंकर जब उन्हें भोजन में हलाहल विष दे देते हैं, तो वे जानते हुये और ज्यादा खा लेते हैं और कहते हैं—मुझे मनुष्य मत समझो, मैं सिंह हूँ।……यद्यपि यह थाल २०-२५ आदमियों को सुलाने के लिये काफी है, शायद एक कौर खाने के बाद दूसरे कौर की नौबत न आयेगी, लेकिन मैं पूरा थाल हजम कर सकता हूँ और तुम्हें मेरे माथे पर बल न दिखाई देगा।' वे यौगिक क्रियाओं द्वारा विष का प्रभाव शमन कर डालते हैं यद्यपि उनके शरीर पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

दूसरों के हृदय को ताड़ लेने की अद्भुत शक्ति रायसाहब में है। वे उड़ती हुई चिड़िया पहचान लेते हैं, इसी से ज्ञानशंकर की उनके सामने कुछ भी नहीं चलती। वे मनोविज्ञान के पूर्ण ज्ञाता है। ज्ञानशंकर के भावों की गहराई और हृदय की थाह तुरन्त ले लेते हैं। प्रेमशंकर के प्रति ज्ञानशंकर के ईर्ष्या भाव को वह जान लेते हैं। इसी प्रकार ज्ञानशंकर किस तरह गायत्री को धूर्ततापूर्वक धोखे में डालना चाहता है, इसका भी पता वे बड़े मनोरंजक ढंग से लगा लेते हैं:—

रायसाहब ने ज्ञानशंकर को फिर चुभती हुई दृष्टि से देखा और कड़ी आवाज से बोले……तुम्हें सच कहना होगा।

ज्ञानशंकर को ऐसा अनुभव हुआ, मानों उनके हृदय पर से कोई परदा-सा उठा जा रहा हो। उन पर एक अर्द्धविस्मृति की दशा छा गयी। दीन भाव से बोले—जी हाँ, सच कहूँगा।

राय०—तुमने यह जाल किसके लिये फैलाया है ?

ज्ञान०—गायत्री के लिये।

राय०—तुम उससे क्या चाहते हो ?

ज्ञान०—उसकी सम्पत्ति और उसका प्रेम।

साथ ही रायसाहब इतने क्षुद्र नहीं हैं कि वे अपराधी का अनिष्ट करें। उनका उद्देश्य केवल अपराधी को सचेत कर देना है वे केवल इतना चाहते हैं कि गायत्री का सतीत्व नष्ट न हो और चाहे ज्ञानशंकर उसकी सारी जायदाद ले लें। ज्ञानशंकर के द्वारा गायत्री की रियासत का अच्छा प्रबन्ध हो रहा था; इससे वे गायत्री से सारा रहस्य खोल नहीं देते। ज्ञानशंकर को डाँटने-डपटने के बाद उनपर रायसाहब को भी दया आती है। वे जानते हैं–'संसार में ऐसा कौन प्राणी है जो स्वर्ग के लिये अपनी आत्मा का हनन नहीं करता।' बस उनकी दयाभावना जाग्रत हो उठती है और ज्ञानशंकर को वे अपने पास बुला कर खिलाते हैं।

किसी-किसी मौके पर रायसाहब अपनी दार्शनिकता का भी परिचय देते हैं। वे ईर्ष्या-द्वेष, हर्ष-विमर्ष से दूर हैं। पुत्र की मृत्यु हो जाती है पर उनके जीवन क्रम में कोई अन्तर नहीं आता। इस पर ज्ञानशंकर को शंका होती है, उसी का निवारण करते हुये वे कहते हैं—'मैं पिंडे-पानी का कायल नहीं और न यही समझता हूँ कि मेरा संतान के बिना संसार सूना हो जायगा। रहा इन्द्रिय सुख भोग, उसके लिये मेरे पास इतने साधन हैं कि मैं पैरों में लोहे की बेड़ियाँ डाले बिना ही उसका आनन्द उठा सकता हूँ—पर मैं कभी काम वासना का गुलाम नहीं रहा, नहीं तो इस अवस्था में आप मुझे इतना हृष्ट-पुष्ट न देखते।'

रायसाहब की एक विशेषता और है-वह है उनकी क्षमा भावना। ज्ञानशंकर उन्हें विष देकर मृत्यु के घाट उतारना चाहता है परन्तु वे

उसे क्षमा कर देते हैं। वे यह रहस्य किसी पर प्रकट नहीं करते और अंत में वे अपनी सारी जायदाद मायाशंकर को दे देते हैं जिसके लिये ज्ञानशंकर इतने कुचक्र रचता है और कुकर्म करता है।

रायसाहब का देशहित की ओर ध्यान नहीं है। वे जनता की ओर से प्रतिनिधि बन कर जाते थे पर उन्हें 'इस बात का अभिमान था कि मैंने अपनी ओर से कौंसिल में कोई प्रस्ताव नहीं किया। जब राजसत्ता अधिकारियों के हाथ में है, हमारे असहयोग और असम्मति से उनमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, तो इसकी क्या जरूरत है कि हम व्यर्थ अधिकारियों पर टिप्पणी करने बैठें और उनकी आँखों में खटकें।" वास्तव में वे सुधार और क्रांति से कोसों दूर थे। शासन की हाँ हुजूरी करना और उनके पिट्ठू बने रहना जैसे उस समय के राजा, महाराजा और ताल्लुकेदारों की प्रथा थी, वैसे ही हमारे राय साहब भी आचरण करते थे।

उनमें फिजूलखर्ची का भी अवगुण है पर वे धन को अपनी इच्छाओं का गुलाम समझते हैं। केवल संगीत परिषद् के आयोजन में वे चार लाख रुपया बरबाद कर देते हैं परन्तु इसे अनुचित इसलिये नहीं समझते कि यह उनकी कलाप्रियता का नमूना था और कला के पतन को वह राष्ट्र का पतन समझते हैं। इस प्रकार वे तत्कालीन जमींदार वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में दिखाई देते हैं।

कादिर मियाँ

यह सरल प्रकृति और उदार हृदयवाला बूढ़ा किसान, ग्राम्यसमाज का सूत्रधार है। सम्पूर्ण उपन्यास भर में यहीं एक ऐसा पात्र है, जो अपने गुणों के कारण पाठक के हृदय में अपना स्थान बना लेता है। वह प्रेमशंकर की तरह उच्च शिक्षा प्राप्त विद्वान नहीं, ज्ञानशंकर या रायसाहब की भाँति धनवान नहीं, और बलराज की भाँति शक्तिशाली नहीं, फिर भी उसमें वह गुण है जिसके कारण सभी उसका कहना मानते हैं। वह सब का अगुआ नहीं बनता, फिर भी वह अगुवा है।

कादिर का बाहरी व्यक्तित्व कितना सादा है-"बूढ़े आदमी थे ठिगना

डील, लम्बी दाढ़ी, घुटने के ऊपर तक धोती, एक गाढ़े की मिरजई पहने हुए थे।" भारतीय किसान का सच्चा स्वरूप उनमें देखने को मिलता है।

कादिर के चरित्र की मुख्य विशेषता है—प्रत्युत्पन्नमति। कितनी ही अस्वाभाविक और खतरे वाली स्थिति आ जाय पर वह घबराता नहीं और परिस्थिति के अनुसार अपनी शक्ति को तौल कर काम करता है। मानसिक उद्वेग का उसमें नाम निशान तक नहीं। अनेक संकटों में वह अपने गाँव के किसान भाइयों की रक्षा करता है। उसकी बुद्धि पर वे गर्व करते हैं और विरोधी पक्ष उससे घबराता है—

"खाँ साहेब ने कादिर का नाम शैतान रख छोड़ा था और······ शैतान से डरते थे। क्योंकि उस पर चोट करना दुश्तर था। उस जवार में कादिर का मान था। वह बड़ा नीति कुशल, उदार और दयालु था। इसके अतिरिक्त उसे जड़ी बूटियों का अच्छा ज्ञान था। यहाँ हकीम, वैद्य, डाक्टर जो कुछ था वही था। रोग-निदान में भी उसे पूर्ण अभ्यास था। इससे जनता की उसमें विशेष श्रद्धा थी।

जमींदार का कोपभाजन बनने से बचने के लिए वह मनोहर को लेकर स्वयं जमींदार के पास जाता है और उसका क्रोध शांत करने का प्रयत्न करता है। जब गाँव में मुचलके का प्रश्न आता है, तो सभी गाँव वाले डर जाते हैं मगर कादिर सबको समझा बुझाकर बलराज के विरुद्ध गवाही देने से रोकता है। वह न्याय और नैतिकता का सहारा लेकर उन्हें समझाता है और जब 'साहु' जी नहीं पसीजते, तो कानूनी भय दिखाकर उन्हें काबू में करता है।

कादिर सुलह पसंद आदमी है। वह 'सांप मर जाय और लाठी भी न टूटे' की नीति पर चलता है। इसलिए यह मौका देखकर जमींदार को वेगार भी दे देता है। झगड़े को व्यर्थ में बढ़ने न देने के लिए वह सब अत्याचार सहन कर लेता है और मनोहर तथा बलराज को समझाता रहता है।

इसका अर्थ नहीं है कि वह दब्बू और डरपोक था। वास्तव

में वह सहनशील था। कादिर निश्चित और निश्शंक अपने काम में लगा रहता था। उसे एक काम के लिये भी यह भय न होता था कि गाँव के जमींदार और कारिंदा मेरे शत्रु हो रहे हैं और उनकी शत्रुता मेरा सर्वनाश कर सकती है।.........उसके हृदय में राग द्वेष के लिये स्थान न था और न इस बात की परवाह थी कि मेरे विषय में कैसे-कैसे मिथ्यालाप हो रहे हैं। वह गाँव में विद्रोहाग्नि फैला सकता था, खाँ साहेब और उनके सिपाहियों को दंड दे सकता था। गाँव में कई उद्दंड नवयुवक थे जो इस अनिष्ट के लिये आतुर थे। किंतु कादिर उन्हें सँभाले रहता था। दीनरक्षा उसका लक्ष्य था, किंतु क्रोध और द्वेष को भड़का कर नहीं, वरन् सद्व्यवहार तथा सत्य प्रेरणा से।" इसीलिये गौसखाँ के अत्याचारों से तंग आकर बलराज पूछता है—

"दादा, कहो तो खाँ साहब को (घूँसे का इशारा करके) कर दी जाय।"

कादिर तब कहता है—"क्या गाँव भर को बँधवाने पर लगे हो? भूल कर भी ऐसा न करना।"

बल०—सब मामला लैस है, तुम्हारे हुकुम की देर है।

कादिर—(कान पकड़कर) न! मैं तुम्हें आग में कूदने की सलाह न दूँगा। जब अल्लाह को मंजूर होगा, तब वह अपने आप ही यहाँ से चले जायँगे।"

कादिर की सहनशीलता की पराकाष्ठा उस समय देखने को मिलती है, जब तहसीलदार की बेगार करने के लिये गाँव वाले तैयार नहीं होते। इससे झगड़ा होने की सम्भावना थी। उसे रोकने के लिये कादिर मियाँ काम करने को उठ खड़े होते हैं और बढ़ावा देकर कहते हैं—"भगत घर में घुसे क्यों बैठे हो, चलो हम लोग भी चलते हैं...... आज हमारी बारी है, देखें कौन ज्यादा घास छीलता है।"

कादिर फिर भी अत्याचार के विरोधी हैं। बलराज अत्याचार के विरुद्ध जब अपनी आवाज उठाता है, तो वे उसका समर्थन करते हैं।

पुरानी पीढ़ी के किसानों की भाँति वे अपनी दयनीय स्थिति के लिए भाग्य और भगवान को ही दोष देते हैं—"अरे, जो अल्लाह को यही मंजूर होता कि हम लोग इज्जत आबरू से रहें, तो काश्तकार क्यों बनाता··········यह सब तकदीर की खूबी है।"

प्रभाशंकर

'प्रेमाश्रम' के प्रभाशंकर दया और स्नेह की मूर्ति हैं। वे उस जमींदार वर्ग के व्यक्ति हैं, जो अपनी निष्ठुरता और अत्याचार के लिए बदनाम है परंतु प्रभाशंकर में वे अवगुण नहीं हैं। इसका कारण यह नहीं है कि उन्होंने आधुनिक सुधारवाद की भावना के प्रभाव से इसे ग्रहण किया है वरन् वे स्वभाव से कोमल हैं। अपने असामियों को वे इसलिए तंग नहीं करते कि उनके हृदय में प्राचीन आदर्श—प्रजावत्सलता—का मोह है। अपने असामी, मनोहर का कष्ट देख कर उनका हृदय पसीज उठता है और वे कहते हैं—तुम लोग हमारे पुराने असामी हो, क्या नहीं जानते कि असामियों पर सख्ती करना हमारे यहाँ का दस्तूर नहीं है।

प्रभाशंकर प्राचीनता के समर्थक हैं और प्रचलित प्रथाओं को मानने में अपना सम्मान समझते हैं। अपने बड़े भाई के समय में वे स्याह-सुफेद के मालिक थे, पर अधिकार-भावना ने उन्हें कभी गर्व करने नहीं दिया। सब कुछ अधिकार रखते हुए भी वे बड़े भाई का कहना नहीं टालते थे। उसी नाते से ज्ञानशंकर की बातों को वे सहन करते रहते हैं। यहाँ तक कि यदि वे ज्ञानशंकर को कोई कठोर बात कह डालते हैं तो मन ही मन उन्हें बड़ा पश्चात्ताप होता है। उन्हें यह सोच कर दुख होता है कि वे बड़े भाई की आत्मा—ज्ञानशंकर को दुख पहुँचा रहे हैं।

प्रभाशंकर का परिवार-प्रेम अद्वितीय है और इस सम्बन्ध में वे भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारे यहाँ बड़े-बूढ़े जिस प्रकार सम्मिलित कुटुम्ब के हामी होते हैं, लाला प्रभाशंकर भी वैसे ही हैं। कुटुम्ब में अलगा-अलगी को वे मान-मर्यादा का प्रश्न समझते हैं।

घर में चाहे जितनी पोल हो पर उसे वे खोलना ठीक नहीं समझते। देखिए—

"मकान बाँटने को कहते हैं! इससे बड़ा अनर्थ और क्या होगा? घर का परदा खुल जायगा, सम्बन्धियों में घर-घर चर्चा होगी। हा दुर्भाग्य! घर में दो चूल्हे जलेंगे, जो बात कभी न हुई, वह अब होगी।" वास्तव में उन्हें सबसे अधिक दुख तब होता है, जब परिवार के नष्ट होने की बात आती है। अलग होने के प्रश्न पर उनके विचार बड़े स्वाभाविक हैं—"ज्ञान, मुझे दीवानखाने की जरूरत नहीं है। भला सोचो तो, तुम दीवानखाने में जाकर रहोगे तो बिरादरी के लोग क्या कहेंगे? नगरवाले क्या कहेंगे? सब कुछ हो गया है पर अभी तक तुम्हारे कुल की मर्यादा बनी हुई है। हम दोनों भाई नगर में राम-लखन की जोड़ी कहलाते थे। मुझे तो इस बदनामी के सामने यह असुविधाएँ कुछ भी नहीं मालूम होतीं। जैसे अब तक काम चलता आ रहा है, उसी भाँति अब भी चल सकता है।"

अपने वंश के गौरव पर प्रभाशंकर को सच्चा अभिमान है। उसकी रक्षा के लिए अपनी सारी सम्पत्ति लुटा देने में उन्हें कोई भी संकोच नहीं है। दयाराम, उनके पुत्र जब घूस के मामले में फँस जाते हैं तो उन्हें छुड़ाने के लिए पुत्र-प्रेम से अधिक मान-मर्यादा की रक्षा का ख्याल बाध्य करता है। जब प्रेमशंकर हत्याकांड के मामले में फँस जाते हैं तो उन्हें मान-मर्यादा का ध्यान रहता है और उन्हें छुड़ाने के लिए वे अपनी जायदाद पर ऋण ले लेते हैं। वे दौड़े हुये ज्ञानशंकर के पास जाते हैं और कहते हैं—"बेटा, तुमने सुना होगा, कुल-मर्यादा मिट्टी में मिल गयी···जिस मान प्रतिष्ठा के लिए हमने जायदादें बर्बाद कर दी, वह आज नष्ट हो गयी·····पुलिस दर्वाजे पर आयगी", इस कल्पना से उन्हें बड़ा दुख होता है। धन उनके विचार में केवल मान मर्यादा की रक्षा के लिए था, भोग-विलास और इंद्रिय-सेवा के लिए नहीं। वे प्रेमशंकर को बचाने के लिए बड़ा प्रयत्न करते हैं।

प्रभाशंकर के वात्सल्य की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। वे अपनी संतानों और बड़े भाई की संतानों, दोनों पर समभाव से प्रेम रखते हैं। बाढ़ आने पर जब प्रेमशंकर अधिक परिश्रम के कारण बीमार पड़ गये और तीन दिन तक सिर न उठाया तो "लाला प्रभाशंकर उनके पास से न उठे। उनके सिरहाने बैठे हुये कभी विनय-पत्रिका के पदों का पाठ करते, कभी हनुमान-चालीसा पढ़ते।"

उनको धन के प्रति जरा भी मोह नहीं है और न है भविष्य की चिंता। मान-मर्यादा की रक्षा होनी चाहिए। कर्ज लेकर वे चुका नहीं सकते। सबका सब खर्च कर डालते हैं।

ज्वाला सिंह

ज्वालासिंह डिप्टी कलेक्टर हैं और ज्ञानशंकर के सहपाठी हैं। जिस प्रकार विश्वविद्यालयों में आदर्शों के पक्षपाती नवयुवक होते हैं, उसी प्रकार ये भी हैं, परंतु जैसी हवा बहती है, उसी के अनुकूल इन्हें काम करना पड़ता है। इसीलिए यह आदर्शवादी नवयुवक जब डिप्टी कलेक्टर हुआ तो किसानों से परिश्रम और बेगार लेता है। उफ ! वे एक "न्यायशील और दयालु मनुष्य थे किंतु इन दो-तीन महीनों के दौरे में उन्हें अनुभव हो गया था कि बिना कड़ाई के मैं सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।" वे किसानों से बेगार लेते हैं पर उनकी अन्तरात्मा इसे स्वीकार नहीं करती। जब बलराज उन्हें सब बता कर सचेत करता है तो उनकी न्यायप्रियता जाग उठती है वे अपने कर्मचारियों को बेगार लेने से मना करते हैं।

ज्वालासिंह में दया और दान की भी प्रवृत्ति है। उन्हें दीनों का दुख देख कर दुख होता है। लखनपुर में प्लेग का प्रकोप है। कितने ही घर वीरान हो जाते हैं। वह दृश्य देख कर उनके हृदय में करुणा जाग उठती है। वे कहते हैं—"बाबू साहब, बड़ा शोकमय दृश्य है।"

किसानों के पास कफन के लिए पैसा नहीं है, प्रेमशंकर की जेब भी खाली है। ज्वालासिंह कहते हैं—"रुपये मेरे पास हैं पर मुझे देते

हुए संकोच होता है, शायद इन्हें बुरा लगे। आप लेकर दे दें तो अच्छा हो।" यह कह वे तुरन्त बीस रुपये दे देते हैं।

ज्ञानशंकर उनके मित्र हैं पर न्याय का पालन करने में वे मित्रता का ख्याल नहीं करते। सच्ची जाँच करने के बाद, वे मुकदमा खारिज कर देते हैं। ज्ञानशंकर को इससे बड़ा क्रोध आता है और वे ज्वालासिंह से अपनी हार का बदला, अपनी कलम द्वारा लेते हैं। अखबारों में वे अपने मित्र के चरित्र पर लांछन लगा कर, उसकी बदनामी करवा देते हैं। अधिकारी उनके विरुद्ध हो जाते हैं; पर वे सन्मार्ग से हटते नहीं और अपना कर्तव्य पालन करने में कभी भी नहीं हिचकते।

ज्वालासिंह एक सच्चे मित्र हैं। ज्ञानशंकर के कारण उनकी बदनामी होती है, उनकी बदली हो जाती है और पद भी घटा दिया जाता है; पर उनके हृदय में ज्ञानशंकर के लिए तब भी स्थान बना रहता है और वे प्रतिहिंसा की भावना नहीं रखते। वे इसलिए बदला नहीं लेते कि ज्ञानशंकर को बुरा परिणाम भुगतना पड़ेगा।

"मैं नतीजे को सोचकर कातर हो जाता हूँ। बाबू ज्ञानशंकर का फँस जाना निश्चित है। मुमकिन है जेल की नौबत आये। वह आत्मिक कष्ट मेरे लिए इससे कहीं असह्य होगा। जिससे प्राणों तक भ्रातृवत् प्रेम रहा, जिससे दाँत काटी रोटी थी, उससे मैं इतना कठोर नहीं हो सकता·········ज्ञानशंकर तबाह हो जायँगे। मैं अपने दुरावेशों को पूरा करने के लिए उनके परिवार का सर्वनाश नहीं कर सकता।"

ज्वालासिंह का सत्य और न्याय-प्रेम उन्हें अपने पद को त्यागने के लिए बाध्य करता है। वे प्रेमशंकर के जीवन का आदर्श मान लेते हैं; परंतु वे राष्ट्र-सेवा तब तक नहीं कर सकते जब तक वे विदेशी सरकार के एक कर्मचारी हैं। दासता की बेड़ियों में जकड़े रह कर राष्ट्र-कल्याण की बात सोच ही नहीं सकते थे। उनकी पत्नी शीलमणि सांसारिक नीति के अनुसार पद त्याग करने की सलाह नहीं देती; परंतु वे अपने मंतव्य को नहीं छोड़ते और राष्ट्रहित का ध्यान करके पद

त्याग कर देते हैं और प्रेमाश्रम में सेवा करने के लिए अपना जीवन अर्पण कर देते हैं।

गायत्री

गायत्री एक भोली-भाली विधवा नवयुवती है। विवाह होने के दो वर्ष बाद ही उसका पति मर जाता है। राय कमलानन्द की पुत्री होने के कारण, उसे अपने बचपन में किसी कष्ट का सामना न करना पड़ा था और ससुराल में भी वैभव की कमी न थी। इसलिए विषम परिस्थितियों से टक्कर लेते-लेते मनुष्य में जो बुद्धि आ जाती है और जो अनुभव मिलता है, उसका पूर्ण अभाव उसमें था। फिर पुरुष जाति के पाखंड, लंपटपन और वासना-प्रेम का उसे कोई परिचय न था। "गायत्री उन स्त्रियों में न थी, जिनके लिए पुरुष का हृदय एक खुला हुआ पृष्ठ होता है। उसका पति दुराचारी मनुष्य था, पर गायत्री को कभी उस पर सन्देह नहीं हुआ, उसके मनोभावों की तह तक कभी नहीं पहुँची। ········उसका निष्फल हृदय वासनायुक्त प्रेम के रहस्यों से अनभिज्ञ था। किन्तु साथ ही सगर्वता उसके स्वभाव का प्रधान अंग थी। वह अपने को उससे कहीं ज्यादा विवेकशील और मर्मज्ञ समझती थी, जितनी वह वास्तव में थी। उसके मनोवेग और विचार जल के नीचे बैठने वाले रोड़े नहीं, सतह पर तैरने वाले बुलबुले थे।" वास्तव में वह मनुष्य की स्वार्थपरता से अनभिज्ञ थी और पुरुष के आन्तरिक व्यक्तित्व को देखने में असमर्थ थी। बाहर से देखकर ही वह पुरुष को अच्छा या बुरा समझ लेती थी। ज्ञानशंकर में रूप था, वैसा ही रूपवान उनके हृदय को गायत्री ने समझा और उनकी ओर आकर्षित हो गयी।

विधवा स्त्री जिस प्रकार एकांत सेवी, और गंभीर होती है, उसके विपरीत गायत्री का स्वभाव था। 'मुँह लटकाकर बैठना उसकी आदत न थी। वह हँसमुख, विनयशील, सरल हृदय, विनोदप्रिय रमणी थी जिसके हृदय में लीला और क्रीड़ा के लिए, जगह न थी।" वास्तव में ये विशेषताएँ उसकी अवस्था के अनुकूल थीं और उसके विकसित

यौवन का परिणाम थीं किन्तु पुरुष इनका उल्टा ही अर्थ लगाता है। गायत्री के सीधे व्यवहार का ज्ञानशंकर ने दूसरा ही अर्थ लगाया है—वह कहता है "आओ, इस उजड़े हुए हृदय को आबाद करो। आओ, इस अन्धकारमय कुटीर को आलोकित करो।" वास्तव में जो गंभीरता एक विधवा के लिए अपेक्षित है, उसके न होने से वह गलत रास्ते पर चलने लगती है। हृदय से उसको वासना से घृणा है पर वही गुग उसके लिए घातक सिद्ध होते हैं। उसकी गल्ती उसे स्वयं मालूम पड़ती है कि इस विषय में मैं सर्वथा निरपराध नहीं हूँ।

गायत्री को अपने सतीत्व के प्रति एक विचित्र प्रकार का मोह है। उसका सतीत्व केवल एक अन्धविश्वास है। हिन्दू समाज में विधवा को अपने मृत पति के स्मृति में ही जीवन बिताना पड़ता है, उसके लिए यह मजबूरी है। प्रेमचन्द जी ने गायत्री का चरित्र लेकर 'विधवा' के सच्चे हृदय का चित्र खींचा है। वास्तव में गायत्री का हृदय प्रेम करने के लिए तड़पता है, पर बंधनों में जकड़े होने के कारण वह अपने हृदय की प्यास मिटा नहीं सकती। राधा का रूप धारण करके परोक्षरूप से वह प्रेम-पिपासा को शांत करने के लिए ज्ञानशंकर से प्रेमामृत की दो चार बूंदे यदा-कदा प्राप्त करती है पर सच्चा सुख उसे नहीं मिलता। मृतपति के प्रति उसका प्रेम आत्मवंचना से अधिक नहीं। अपने पति की याद वह केवल 'आध्यात्मिक श्रद्धा' से किया करती थी। संयम का जीवन उस पर जबरन लादा गया था, उसने स्वेच्छा से वह व्रत नहीं धारण किया था। इसीलिए ज्ञानशंकर के सम्पर्क में आते ही वह व्रत खंडित होने लगता है और इस भेद को वह समझ नहीं पाती—"ज्ञानशंकर से उसे लगाव होता जाता था। ज्ञानशंकर को बाहर से आने में देर होती, तो उसे बेचैनी होने लगती, किसी काम में जी न लगता था, वह अटारी पर चढ़ कर उनकी बाट जोहती।" स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में जो चुम्बकत्व होता है, वही उन दोनों में एक दूसरे के प्रति आकर्षण पैदा कर देता है। वह यह समझती है कि

"मेरा पति-प्रेम-बंधन जर्जर हो गया, नहीं तो मैं इन वार्ताओं के आकर्षण से सुरक्षित रहती ।"

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में प्रचलित प्रथाओं और परम्पराओं पर धीरे-धीरे इतना विश्वास जम जाता है कि उनके पालन करने में कितना ही अनौचित्य जान पड़े पर उनकी अवहेलना करना असंभव होता है। सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं के प्रति आस्था की जड़ हृदय में इतनी गहरी घुस जाती है कि यदि उन्हें उखाड़ने का प्रयत्न करने लगें, तो जान पड़ता है हमीं नष्ट हो जायँगे। हमारी शारीरिक प्रवृत्तियाँ कितनी ही बलवती हों, पर उनका दमन हम कर ही डालते हैं। गायत्री के सम्बन्ध में यह सत्य ठीक ठहरता है। वह युवती है, वह अपनी प्रेम-पिपासा को शांत करना चाहती है, पर नहीं कर सकती। जब ज्ञानशंकर ऐसा अवसर ले आता है, जब वह जीवन का सुखोपभोग कर सके, तो वही सामाजिक आस्था उग्र रूप धारण करके सामने आ खड़ी होती है। सतीत्व के प्रति सच्चा प्रेम उसे नहीं रोकता वरन् उसके वे दृढ़ विश्वास उसे पकड़े रहते हैं जो उसने समाज में प्राप्त किये थे। ज्ञानशंकर बग्घी में बैठे हुए; उसके साथ जब काम-कुचेष्टा कर बैठता है, तो गायत्री को दुख होता है—"आत्मवेदना का ज्ञान आरे के समान हृदय को चीर रहा था। उसकी वह वस्तु लुट गयी थी, जो उसके मान की रक्षक, उसके आत्मगौरव की पोषक, उसके धैर्य का आधार और उसके जीवन का अवलम्ब थी।" उसके उस दृढ़ विश्वास पर ज्ञानशंकर ने चोट पहुँचायी थी। उस भेद को कोई नहीं जानता, परन्तु वह अपनी ही नजरों में गिर जाती है। आत्मग्लानि के द्वारा वह अपने दोष को धोना चाहती है और अपने पति के चित्र के साथ वह इस प्रकार बातें करके क्षमा माँगती है मानों वह जीवित हों। धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करने का अपराध उसके मन को अशान्त बनाये रखता है। उसकी मनोदशा का अत्यन्त स्वाभाविक चित्र इस स्थल पर देखने को मिलता है।

मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि जब मनुष्य अपनी प्रवृत्तियों को सीधे तरीके से संतुष्ट नहीं कर पाता तो वह ऐसे परोक्ष उपायों का अवलम्बन करता है, जो उसे आसानी से संतोष प्रदान करते हैं। सीधे तरीके से अपनी प्रवृत्तियों का शमन करने में बहुत से सामाजिक या अन्य विरोधों का सामना करना पड़ता है, विशेष-रूप से काम प्रवृत्ति के सम्बन्ध में। यह समस्या विधवा स्त्रियों के बारे में अधिक विषम बन जाती है। पाश्चात्य विद्वानों ने सिद्ध किया है कि हमारे उच्च भाव—जैसे भक्ति, त्याग, सेवा आदि इस कामवृत्ति के परिवर्तित रूप हैं। अर्थात् जब मनुष्य समाज के भय से अपने ही समान दूसरे व्यक्ति से प्रेम नहीं कर पाता, तो उसी प्रेम को वह देवताओं पर आरोपित करके सुखी होता है, क्योंकि इस प्रकार का प्रेम उन्मुक्त है। गायत्री के सम्बन्ध में यह तथ्य ठीक इसी रूप में दिखायी देता है। गायत्री नवयुवती थी, उसे प्रेम चाहिए; पर लौकिक प्रेम उसे प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह विधवा है। जब ज्ञानशंकर उसे भक्ति के क्षेत्र में ले जाता है तो उसे सुख होता है। कृष्ण-भक्ति द्वारा वह अपनी प्रेमाकांक्षा को पूरी कर सकती थी। समाज द्वारा भक्ति मान्य है और अन्तरात्मा भी उसे स्वीकार करती है, वह इसे सतीत्व भंग नहीं समझती, इसलिए दूसरी ओर वह स्वतंत्रतापूर्वक प्रेम का आनन्द उठाती है। किंतु वास्तविकता तो यह है कि वह ज्ञानशंकर की ओर आकर्षित थी और भक्ति केवल एक बहाना मात्र था—

'वह मीराबाई सदृश कृष्ण की मूर्ति को स्नान कराती, वस्त्राभूषणों से सजाती, उनके लिए नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोग बनाती और मूर्ति के सम्मुख अनुराग-मग्न होकर घंटों कीर्तन करती······लेकिन इस सत्संग से शांति मिलने के बदले उसका हृदय सदैव एक तृष्णा, एक विरहमय कल्पना से विकल रहता था।······वह स्वयं न जानती थी कि मैं क्या चाहती हूँ ? वास्तव में वह राधा और कृष्ण के प्रेम-तत्व को समझने में असमर्थ थी। उसकी भौतिक 'दृष्टि प्रेम के ऐन्द्रिक

स्वरूप' से आगे न बढ़ सकती थी और उसका हृदय इन प्रेम-सुख-कल्पनाओं से तृप्त न होता······पहले पति-प्रेम उसका सर्वस्व था······अब उस प्रेम का स्वरूप मिटा हुआ, फीका, विकृत मालूम पड़ता था। नदी उमड़ गयी थी। पति-भक्ति का वह बाँध जो कुल-मर्यादा और आत्मगौरव पर आरोपित था, 'इस प्रेमभक्ति की बाढ़ से टूट गया'···उसका कृष्ण कौन था, वह स्वयं उसे स्वीकार करने का साहस न कर सकती थी, पर उसका स्वरूप ज्ञानशंकर से बहुत मिलता था।'

गायत्री का एक गुण है उसका प्रजारंजन। अपनी रियासत का प्रबन्ध वह सुचारुरूप से करती है। इस दृष्टि से वह पुरुषों के समान है। 'गायत्री उन महिलाओं में थी जिनके चरित्र में रमणीयता और लालित्य के साथ पुरुषों का साहस और धैर्य मिला होता है। यदि वह कंघी और आइने पर जान देती थी, तो कच्ची सड़कों के गर्द और धूल से भी न भागती थी······लखनऊ से आये हुए उसे दो साल हो गये, लेकिन एक दिन भी अपने विशाल भवन में आराम से न बैठी। कभी इस गाँव जाती, कभी इस छावनी में ठहरती, कभी तहसील आना पड़ता।' वह अपनी रियासत का प्रबन्ध करने में दत्तचित्त रहती थी। इस मार्ग में उसके कारिन्दे बाधक थे। यदि वह कम सूद पर रुपये देने की आज्ञा देती तो वे लोग बीच में रुपये हड़प लेते—यदि अष्टांश पर अनाज देने को कहती थी, तो वे सवाई डेवढ़े पर उठाते। अपने इलाके में वह सफाई का प्रबन्ध भी करना चाहती थी और इसके लिए उसने भंगी नियुक्त किये। बाढ़ आने पर, पीड़ितों की सहायता करने के लिए वह स्वयं जाती थी, परन्तु उसकी यह सुधारवादी नीति समय के पहले थी। प्रजा गायत्री की इन सच्चेष्टाओं को सन्देह की दृष्टि से देखती थी; क्योंकि प्रायः जमींदार लोग ऐसा करते नहीं थे। जनता उसे अत्याचारों के दमन में सहयोग न दे सकती थी, फिर भी वह अपने कर्तव्य में तत्पर थी।

गायत्री में उदारता थी, दया थी; मगर थी वह उसी जमींदार

वर्ग की जो अधिकार-मद से पागल रहते हैं। यों तो वह अपनी ओर से अपने आसामियों पर कोई अत्याचार न करती थी मगर अधिकार का गर्व उसे था। उसे यह असह्य था कि उसकी आज्ञा का उल्लंघन किया जाय। जब ज्ञानशंकर उसे यह समाचार देते हैं कि असामी सभा का चन्दा देने से इन्कार करते हैं; तो 'गायत्री की त्योरियाँ बदल गयीं। प्रेम की देवी क्रोध की मूर्ति बन गयी। बोली, क्या देहातों में भी हवा फैलने लगी? कारिंदों को लिख दीजिए कि इन पाजियों के घर में आग लगवा दें और उन्हें कोड़ों से पिटवाएँ...... मैं यह अवज्ञा नहीं सह सकती। ये सबके सब कृतघ्न हैं।' वास्तव में गायत्री बेगार पाना, चन्दा लेना आदि अपना हक समझती है। उसे ये बातें अन्याय नहीं जँचती। यदि अपनी रियासत में इन सब की रोक-थाम करती है, तो केवल इसलिए कि उसे अपनी प्रजा से प्रेम है। प्रजावत्सलता उसका आदर्श है कि जिस पर वह चलना चाहती है। मगर जब ज्ञानशंकर उसके सामने बेगार और सख्ती के पक्ष में तर्क देते हैं, तो वह सहमत हो जाती है। यही नहीं, लाभ के लोभ में बेदखली आदि को जिन्हें वह बुरा समझती है, वह उचित समझने लगती है।

जमींदारों की भाँति उसे भी ठाटबाट और शान-शौकत से प्रेम है। गवर्नर महोदय के स्वागत, जलसे और धूमधाम का वह प्रबंध करती है। उसे रानी की पदवी मिलती है। इस अवसर पर खूब खुले हाथों धन लुटाया जाता है। इसका एक उद्देश्य है शासन को अपनी राजभक्ति का प्रमाण देना।

गायत्री के प्रेम का नशा उस समय उतरता है जब उसकी बहन विद्या जहर खा लेती है। उसे अब ज्ञानशंकर का सच्चा स्वरूप दिखायी पड़ता है। 'वह इस खून से अपना हाथ रँगा हुआ पाती थी। उसे लगता कि ज्ञानशंकर की सूरत देखते ही विद्या का झिझकना, चीखना, चिल्लाना साफ कह रहा था कि उसने हमारे ही ऊपर जान दी...... उसके विचार में यह दुर्घटना इस बात का प्रमाण थी कि हम भक्ति

के ऊँचे आदर्श से गिर गये। प्रेम के निर्मल जल में तैरते हुये हम भोग के सेवारों में उलझ गये।' वास्तव में 'विद्या से उसे बहुत मुहब्बत थी, उसकी मृत्यु का उसे सच्चा शोक था। विद्या को याद करके वह बहुधा एकांत में रो पड़ती, उसकी सूरत उसकी आँखों से कभी न उतरती थी।' इस घटना से उसके मन में विराग उत्पन्न हो जाता है। अपनी रियासत उसने ज्ञानशंकर के पुत्र मायाशंकर को दे दी थी, अब उसका मन बिल्कुल नहीं लगता। 'गायत्री की दशा इस समय उस पथिक की-सी थी, जो साधु वेषधारी डाकुओं के कौशल-जाल में पड़कर लुट गया हो। ज्यों-ज्यों सारी घटना पर विचार करती थी, उसको सभी रहस्य, कारण और कार्य के सूत्र में बँधे हुये मालूम होते थे।' वह तीर्थ यात्रा करने चल देती है। इसके बाद तो उसे अपना जीवन एक भार सा लगता है और अन्त में वह उसी यात्रा में मर जाती है।

गायत्री का चरित्र बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से अंकित हुआ है। मानवीय भावों का बड़ा स्वाभाविक वर्णन हमें उसके चरित्र में मिलता है।

श्रद्धा

श्रद्धा और गायत्री के चरित्र एक दूसरे से पूर्णतया विपरीत हैं। गायत्री विधवा होते हुए सधवा का सा आचरण करती है उसे बनाव, शृङ्गार और रूप से प्रेम है; परन्तु श्रद्धा सधवा (जिसका पति जीवित हो) होते हुए भी विधवा का जीवन बिताती है। हिन्दू स्त्रियों में धर्मपरायणता और समाज के प्रति सम्मान इतना अधिक होता है कि वे उनके आगे अपने मनोभावों का कुछ ध्यान नहीं करतीं। धर्म और समाज की मर्यादा रखने के लिए गायत्री जिस प्रकार अपने व्यक्तिगत मनोभावों का बलिदान करती है, वह बात एक सीमा के बाहर जान पड़ती है। श्रद्धा के पति बा० प्रेमशंकर सच्चरित्र हैं। वे अमेरिका हो आये हैं, इसलिये वे समाज से बहिष्कृत हैं। यहाँ तक कि उनके भाई ज्ञानशंकर उनका छूआ खाना तो दूर रहा, साथ बैठकर भी खाना अनुचित समझते हैं। सामाजिक दृष्टि से उनकी अपवित्रता, श्रद्धा को उनसे दूर रहने के

लिए बाध्य करती है। समाज और धर्म के प्रति यह अंधविश्वास अजीब स्थिति पैदा कर देता है। पति-पत्नी एक दूसरे को सम्पूर्ण हृदय से प्रेम करते हैं मगर श्रद्धा के अन्धविश्वास के कारण उनका मिलन नहीं हो पाता। हमारे देश में इन २५ वर्षों में बड़े परिवर्तन हो चुके हैं। देश में धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनों के कारण अब इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण प्रथाओं की समाप्ति हो रही है। आज 'श्रद्धा' की तरह की स्त्रियों का कार्य अस्वाभाविक लगेगा; पर जिस समय 'प्रेमाश्रम' की रचना हुई थी, उस समय ऐसे चरित्र की स्त्री का होना स्वाभाविक था।

श्रद्धा को अपने पति से अत्यधिक प्रेम था। उसके अमेरिका चले जाने पर, उसने विरह के दिन गिन गिन कर काटे थे। यहाँ पर उसका चरित्र 'उर्मिला' के सदृश उज्ज्वल प्रतीत होता है। "महीने के तीस दिन और दिन के चौबीस घंटे यही मनोहर स्वप्न देखने में कटते थे···श्रद्धा के लिए प्रेमशंकर केवल एक कल्पना थे। इसी कल्पना पर वह प्राणार्पण करती थी। उसकी भक्ति केवल उनकी स्मृति पर थी जो अत्यन्त मनोरम, भावमय और अनुरागपूर्ण थी।" श्रद्धा का पति से शारीरिक मिलन का मार्ग बन्द था, किन्तु उसके मन में धर्म और प्रेम का संघर्ष चलता रहता था। जब प्रेमशंकर उससे मिलने के लिए उसके कमरे में जाते हैं तो वह उनसे धर्मभीरुता के कारण मिल नहीं पाती। "हाँ, इस समय उसके हृदयपर क्या बीत रही है, कौन जान सकता है? उसका प्रिय पति जिसके वियोग में उसने सात वर्ष रो-रोकर काटे थे, सामने से भग्न हृदय, हताश चला जा रहा था और वह इस भाँति सशङ्क खड़ी थी, मानो आगे कोई बृहत् जलागार है। धर्म पैरों को बढ़ने न देता था। प्रेम उन्मत्त तरंगों की भाँति बार बार उमड़ता था, पर धर्म की शिलाओं से टकराकर लौट आता था।" धर्म के कारण अपने पति के हृदय पर चोट पहुँचाने का उसे बड़ा पश्चात्ताप होता है। मिलन को छोड़ कर वह अपने पति की हर प्रकार सेवा करने के लिए उद्यत रहती है। प्रेमशंकर के सामने आर्थिक कठिनाइयाँ हैं, श्रद्धा अपने गहने उन्हें दे देती है।

कम से कम गहनों का मोह स्त्रियों को बहुत होता है, मगर श्रद्धा पति प्रेम के आगे उन्हें तुच्छ समझती है। उसके पत्र में उसकी निस्पृहता की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति है :—

"इस सन्दूकची में मेरे कुछ गहने और रुपये हैं। गहने अब किसके लिये पहनूं ? कौन देखेगा ? यह तुच्छ भेंट है, इसे स्वीकार कीजिए। यदि आप न लेंगे, तो मैं समझूंगी कि आपने मुझसे नाता तोड़ लिया।"

इसी प्रकार ज्ञानशंकर प्रेमशंकर के हिस्से को हड़पने के लिए जाल फैलाता है। वह श्रद्धा को भड़काता है कि गाँव का आधा हिस्सा वह अपने नाम लिखवा ले पर उसे जरा भी लोभ नहीं। पति पर उसको विश्वास है। वह कहती है—

"मैं ऐसा नहीं कर सकती। उनकी जो इच्छा हो करें, चाहे अपना हिस्सा बेच दें या रखें। वे स्वयं बुद्धिमान हैं, जो उचित समझेंगे, करेंगे। मैं उनके पैर में बेड़ी क्यों डालूँ ?···"मेरी चिन्ता कुछ न करो। वे मेरे स्वामी हैं, जो कुछ करेंगे, उसी में मेरी भलाई है। मुझे विश्वास ही नहीं होता कि वे मुझे निरवलम्ब छोड़ जायँगे।"

उसकी धर्मभीरुता, उसका गुण भी है और अवगुण भी। वह इसके चरित्र को ऊँचा उठाती है, पर इतना अधिक अन्ध-विश्वास अच्छा नहीं जँचता। श्रद्धा को सामाजिक अवस्था और समयोचित आवश्यकताओं का ज्ञान था। परम्परागत बन्धनों को तोड़ने के लिए जिस विचार-स्वातन्त्र्य और दिव्य ज्ञान की जरूरत है, उससे वह रहित थी। वह अपने प्राणों से प्रिय स्वामी से हाथ धो सकती थी, किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोकनिन्दा का सहन करना उसके लिए असम्भव था। पति उससे मिलने आता है पर धर्मास्था कहती है— "प्रेम नश्वर है, निस्सार है, कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी ? यह सब माया जाल है ! मैं अविनाशी हूँ, मेरी रक्षा करो। ······मन में स्थिर किया, जो स्वामी सात समुद्र पार गया, वहाँ न जाने क्या खाया, क्या पिया, न जाने किस के साथ रहा, अब उससे मेरा

क्या नाता ?" वह अपने अतृप्त हृदय को प्यासा रखना पसन्द करती है, परन्तु धर्म के बंधन तोड़ना उसके लिये दुस्साध्य है।

पति के बिना स्त्री का जीवन शून्य है, पर समाज के भय से वह उसे अपना नहीं सकती। श्रद्धा अपने जीवन को एक विडम्बना समझती है और धर्म-रक्षा के लिए डूब कर मरना चाहती है। प्रेमशंकर उसकी रक्षा करते हैं। इस स्थल पर उसकी धार्मिक श्रद्धा का अभूतपूर्व परिचय मिलता है। प्रेमशंकर नये विचारों के व्यक्ति हैं, वे उस काम को कभी नहीं करते, जिसे वे तर्क संगत नहीं समझते। श्रद्धा उनसे प्रायश्चित करने को कहती है, पर उनका प्रायश्चित पर विश्वास नहीं, वे इंकार करते हैं। उसकी धर्मपरायणता का नमूना देखिए—

"श्रद्धा का एक हाथ प्रेमशंकर के हाथ में था। यह कथन सुनते ही उसने हाथ खींच लिया और दोनों अँगूठों से दोनों कान बन्द करती हुई बोली; ईश्वर के लिए मेरे सामने शास्त्रों की निंदा मत करो। हमारे ऋषियों और मुनियों ने शास्त्रों में जो कुछ लिख दिया है, वह हमें मानना चाहिए। उनमें मीन-मेख निकालना हमारे लिए उचित नहीं। हममें इतनी बुद्धि कहाँ है कि शास्त्रों के सभी आदेशों को समझ सकें। उनके मानने में ही हमारा कल्याण है।

और प्रेमशंकर के अधिक तर्क करने पर वह स्पष्ट कह देती है— "आपके चित्त से अभी अहंकार नहीं मिटा। जब तक इसे न मिटाइयेगा, ऋषियों की बातें आपकी समझ में न आयँगी।"

श्रद्धा त्याग, सेवा और संतोष की देवी है। उसका सर्वत्र सम्मान होता है। उसके पति को उसके विचारों से पूर्ण असंतोष है पर उसके हृदय में भी उसे सच्चा स्थान प्राप्त है :—

"प्रेमशंकर के सम्मुख श्रद्धा एक देवी के रूप में खड़ी मालूम पड़ती थी। उसकी मुखश्री एक विलक्षण ज्योति से प्रदीप्त थी। त्याग और अनुराग की विशाल मूर्ति थी, जिसके कोमल नेत्रों में भक्ति और प्रेम की किरणें प्रस्फुटित हो रही थीं।......श्रद्धा की भक्ति के सामने अपनी कटुता और अनुदारता अत्यंत निंद्य प्रतीत होने लगी।"

विद्या

गायत्री और श्रद्धा की भाँति विद्या का चरित्र पाठक के सामने विशद रूप में नहीं आता, पर जिस रूप में भी हम विद्या को देखते हैं, वह भारतीय नारी का एक सच्चा रूप है। उसके सम्बन्ध में बा० मैथिलीशरण गुप्त का यह कथन—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।।

बिल्कुल ठीक उतरता है। वास्तव में स्त्री का जीवन पति और पुत्र-प्रेम तक ही सीमित रहता है और विद्या का जीवन भी पति और पुत्र तक सीमित है। विद्या को सुख नहीं प्राप्त है, क्योंकि उसका पति दुराचारी और स्वार्थी है। दोनों के स्वभाव में बहुत अन्तर है। विद्यावती "इन विचारों में अपने पति से सहमत न थी।......उस परमार्थ पर स्वार्थ से अधिक श्रद्धा थी। उसे बाबू ज्ञानशंकर को अपने चाचा से वाद-विवाद करते देखकर खेद था और अवसर मिलने पर वह उन्हें समझाने की चेष्टा करती थी।"

विद्या सुलझे हुये विचारों की स्त्री है। वह अपने पति को हमेशा कुमार्ग पर चलने से रोकती है परन्तु वह पति के द्वारा पग पग पर अपमानित होती है। उसके विचार उदार हैं, इसलिए वह परिवार में लड़ाई-झगड़ा पसंद नहीं करती। जब ज्ञानशंकर अपने भाई दयाशंकर की सिफारिश करने से इन्कार कर देता है तो वह उन्हें समझाती है। ज्ञानशंकर जब अलग हो जाते हैं, तो उसे सुख नहीं होता। दोनों के विचारों के न मिलने से उनका दाम्पत्य जीवन सुखी नहीं रहता। कभी कभी यह मतभेद विवाद और कलह का भी रूप धारण कर लेता है। पति-पत्नी में जब कभी बातचीत होती तो उसमें मधुरता, हास्य और विनोद की जगह कटुता होती थी :—

विद्या०—भला कपड़े लौटा दोगे तो वे अपने मन में क्या कहेंगे ? वे बेचारे तो तुमसे मिलने को दौड़ते हैं और तुम भागे भागे फिरते हो ?

तुम्हें रुपयों का ही ख्याल है न ? तुम कुछ मत देना, मैं अपने पास से दे दूँगी।

ज्ञान०—जब तुम धन्नासेठों की तरह बातें करती हो, तो बदन में आग-सी लग जाती है। उन्होंने कपड़े भेजे तो कोई एहसान नहीं किया। दूकानों का साल भर का किराया पेशगी लेकर हड़प चुके हैं।

भारतीय घरों में रहनेवाली स्त्रियाँ जिस प्रकार से रहती हैं, उसी प्रकार विद्या का जीवन बीतता है—घर में काम काज करना, कसीदा काढ़ना और अन्य प्रबन्ध देखना। इसीलिए सामाजिक व्यवहार और मिलने-जुलने में उसे बड़ा संकोच होता है। अपने स्वार्थ साधन के लिए जब ज्ञानशंकर उसको ज्वालासिंह के घर भेजने को कहते हैं तो वह कहती है—"मुझे तो वहाँ जाते झेंप होती है, न कभी की जान-पहचान, न रीति, न व्यवहार। मैं वहाँ जाकर क्या बातें करूँगी ? गूँगी बनी बैठी रहूँगी। तुमने मुझसे न पूछा, अच्छा वादा कर आये।"

विद्या में लोक-व्यवहार का ज्ञान अत्यधिक है ? वह इस बात को अच्छी तरह समझती है कि अमुक काम करने से हमारी सामाजिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ेगा। गायत्री के आमन्त्रण पर ज्ञानशंकर उसकी रियासत का मैनेजर बनना स्वीकार कर लेते हैं, परंतु विद्या इसे लोकाचार के विरुद्ध समझ कर उनका विरोध करती है—"जब तुम्हें इतनी मोटी-सी बात भी नहीं सूझती तो मैं और क्या कहूँ। भला सोचो तो, दुनियाँ क्या कहेगी ! लोग यही कहेंगे कि अबला विधवा है, नातेदार जमा होकर लूट-खा रहे हैं। तुम चाहे जितने निस्पृह भाव से काम करो, लेकिन बदनामी से न बच सकोगे।" उनका यह पद ग्रहण न केवल लोकाचार की दृष्टि से अनुचित है, वरन् उससे विद्या के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचती है। गायत्री और विद्या दोनों बहनें हैं और दोनों का पद बराबर है। ज्ञानशंकर के नौकर होते ही विद्या का पद नीचा हो जायगा। इसीलिए वह उनका विरोध करते हुए कहती है—"अभी वह तुम्हारी साली है, तुमसे कितना प्रेम करती है, कितनी ही

बार तुम्हारी चारपाई तक बिछा दी है। इस उच्चासन से गिरकर तुम उसके नौकर हो जाओगे और मुझे भी बहिन के पद से गिरा नौकरानी बना दोगे।"

भारतीय स्त्रियों की धर्मप्रियता उनका विशेष गुण है। हिन्दू धर्म सिखाता है कि तुम्हारा पति कितना ही दुराचारी क्यों न हो, तुम्हारे लिए पूज्य है। विद्या को अपने पति के प्रति धार्मिक श्रद्धा है, चारित्रिक नहीं। जिस समय रायसाहब ज्ञानशंकर की दुष्टता का वर्णन विद्या से करते हैं, उन आरोपों के सच होते हुए भी "विद्या की तेवरियों पर बल चढ़ गये। उसने कठोर दृष्टि से रायसाहब को देखा; पर मुँह से कुछ न बोली। ऐसा जान पड़ता था कि वह इन बातों को नहीं सुनना चाहती।" भारतीय स्त्री के लिए पति की निंदा सुनना पाप है। जब रायसाहब ने गायत्री और ज्ञानशंकर के अनुचित सम्बन्ध का आक्षेप किया तो "विद्या की भौंहें तन गयीं, मुखराशि रक्तवर्ण हो गयी। गौरवयुक्त भाव से बोली—पिता जी, मैंने सदैव आप का अदब किया है और आपकी अवज्ञा करते हुए मुझे जितना दुख हो रहा है, वह वर्णन नहीं कर सकती, पर यह असम्भव है कि उनके विषय में यह लांछन अपने कानों से सुनूँ। मुझे उनकी सेवा में आज १७ वर्ष बीत गये, पर मैंने उन्हें कभी भी कुवासनाओं की ओर झुकते नहीं देखा।" वह पति के इस कलंक पर विश्वास नहीं कर पाती और पति के चरित्र पर यह अन्ध विश्वास चरम सीमा पर पहुँच जाता है, जब वह यह कहती है कि आप मुझे घर बुलाकर इतना अपमान कर रहे हैं, यह आपको शोभा नहीं देता। आप का हृदय इतना कठोर हो गया है। जब आपके मन में ऐसे ऐसे भाव उठ रहे थे, **तो मैं यहाँ क्षण भर भी रहना नहीं चाहती। मैं जिस पुरुष की स्त्री हूं, उस पर सन्देह करके अपना परलोक नहीं बिगाड़ सकती।** वह आपके कथनानुसार कुचरित्र सही, दुरात्मा सही, कुमार्गी सही, परन्तु मेरे लिए पूज्य और देव तुल्य है।"

जब राय साहब उसे यह बतलाते हैं कि ज्ञानशंकर ने उन्हें विष दे दिया था, तो वह प्रतिवाद भी नहीं कर सकती; क्योंकि वह अपने पति की स्वार्थपरता से परिचित थी। पति की दुश्चरित्रता को वह अपने 'अपमान' का प्रश्न समझती है क्योंकि पत्नी पति की अर्धाङ्गिनी है। वह अपने को रायसाहब की नजरों में गिरा हुआ समझती है। उसका ख्याल है—वह अपने पिता की नजरों से गिर गयी, उसके मुंह में कालिख लग गयी। रायसाहब का यह समझना स्वाभाविक था कि इस दुष्कर्म में विद्या का भी कुछ भाग अवश्य होगा। कदाचित् यही समझ कर वह उससे यह वृत्तान्त कहने आये थे। वह सारा दोष पति के सिर मढ़कर अपने को क्योंकर मुक्त कर सकती थी।

पिता के सामने तो विद्या यह अवश्य प्रतिवाद करती रही कि उस का पति निष्कलंक है; पर रायसाहव के प्रमाणों ने उसके हृदय में जड़ जमा दी। एक स्त्री की सबसे बड़ी पूँजी है उसका पति प्रेम। जब वह छिनने लगती है और दूसरा उसे हथियाने लगता है तो उसकी रक्षा के लिए वह भयानक रूप धारण करती है। वह दूसरे पक्ष को नष्ट कर देना चाहती है। किन्तु जब वह यह देखती है कि वह पूँजी अपने आप दूसरे के हाथ चली जा रही है और वह उसे नहीं रोक सकती, तो उसे निराशा होती है, दुख के मारे उसका हृदय फट जाता है—और उसे मर जाना ही उचित जान पड़ता है। विद्या की भी ठीक यही दशा होती है। वह अपने पति को बचाने के लिये बनारस जा पहुँचती है और गायत्री के बारे में मायाशंकर और अन्य नौकरों से पूंछ ताछ करती है। वह गायत्री से खिन्न और क्रोधित सी रहती है; क्योंकि वह समझती है कि गायत्री मेरे पति पर अधिकार करना चाहती है। इस स्थिति में दोनों के बात करने का ढंग देखिये :—

गायत्री—मेरे न जाने से नाराज तो अवश्य हुए होंगे ?

विद्या—तुम्हें उनके नाराज होने की क्या चिंता है ? वे नाराज हो कर तुम्हारा क्या बिगाड़ सकते हैं ?

यद्यपि यह उत्तर काफी द्वेषमूलक था, पर गायत्री ने कुछ ध्यान न दिया; बोली—क्या कहूँ, कल तुम न आ गयीं, नहीं तो कृष्ण लीला का आनन्द उठातीं।······

विद्या ने व्यंग्य से कहा—मेरा अभाग्य था कि कल न आ गयी।

गायत्री—एक बार फिर वही लीला करने का विचार है। अब की तुम्हें भी कोई न कोई पार्ट दूंगी।

विद्या—नहीं, मुझे क्षमा करना। नाटक खेलकर स्वर्ग जाने की मुझे आशा नहीं है।

बातचीत में व्यंग्य, ईर्ष्या और कटुता का प्राधान्य है।

जब वह ज्ञानशंकर और गायत्री दोनों को प्रेमालिंगन में आवद्ध पाती है, तो उसका आत्माभिमान चोट खाकर तड़प उठता है। किन्तु बहिन की आत्मग्लानि और पश्चाताप उसको शांत कर देता है। साथ ही वह उसका प्रतिकार इस प्रकार करना चाहती है कि गायत्री उसके एकमात्र पुत्र मायाशंकर को गोद न ले। पति तो गया, पर पुत्र को बचाकर वह अपने आत्माभिमान की रक्षा करना चाहती है। परन्तु जब इसमें भी उसे असफलता मिलती है तो वह अपनी हार मान लेती है। "वह एक गर्वशीला, धर्मनिष्ठा, संतोष और त्याग के आदर्श का पालन करने वाली महिला थी। कभी सोचती, लखनऊ चली जाऊँ और वहाँ जीवनक्षेप करूँ, कभी सोचती, जी कर करना ही क्या है, ऐसे जीने से क्या मरना बुरा है?" पति का अपराध उसे अक्षम्य जान पड़ता है। श्रद्धा के समझाने पर वह कितना वैराग्यपूर्ण उत्तर देती है—बहिन, तब तो मेरी नाव डूब गयी। जो कुछ होना था हो चुका। अब सारी स्थिति समझ में आ गयी। इस धूर्त ने इसीलिए यह जाल फैलाया था।······अब मालूम हुआ कि इसके मन में क्या ठनी थी। ······अभी तक मैं यही समझती थी कि गायत्री के रंग रूप, बनाव-चुनाव, बातचीत ने इसे मोहित कर लिया है। वह निंद्य कर्म होने पर भी घृणा के योग्य नहीं है।" वह समझ जाती है कि गायत्री की रिया-

सत हड़पने के लिये उसने प्रेम का स्वाँग रचा। मायाशंकर के गोद लिये जाने पर वह हताश हो जाती है और विष खा लेती है।

प्रेमाश्रम का महत्व

'वरदान' के बाद 'प्रेमाश्रम' के दर्शन हुए। 'सेवासदन' में चित्र कम हैं, पर साफ हैं। 'प्रेमाश्रम' में चित्र बहुत हैं और उनमें से कुछ दुर्बोध भी हैं, पर चित्रणकला में कहीं भी शिथिलता नहीं आने पायी है। 'सेवासदन' का उद्देश्य सामाजिक और 'प्रेमाश्रम' का राजनीतिक; परन्तु दोनों देश-प्रेम के सूत्र में बँधे हैं। हिन्दी संसार के उपन्यास-साहित्य में 'प्रेमाश्रम' 'सेवासदन' से कम नहीं है और यदि किसी पुस्तक के प्रभाव से उसके पद का निरीक्षण हो, तो शायद 'प्रेमाश्रम' आधुनिक भारतीय उपन्यास-साहित्य में सर्वश्रेष्ठ उतरे।

'प्रेमाश्रम' की समालोचना करने के लिए हम किस पद्धति का प्रयोग करें? बंकिमचन्द्रजी के उपन्यासों को देखकर अँगरेजी साहित्य से परिचित समालोचक तुरन्त कह सकते हैं कि ये स्काट के ढर्रे के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। रवीन्द्रनाथ जी के उपन्यासों को आप सामाजिक कह सकते हैं। आपको अँगरेजी साहित्य में इनकी जोड़ के बहुत-से उपन्यास-लेखक मिलेंगे। जार्ज इलियट, थैकरे या डिकेंस इनके तथा रवीन्द्रनाथ जी के उपन्यास क्षेत्र में कोई भारी भेद नहीं है। परन्तु प्रेमचन्द जी के उपन्यास इन श्रेणियों में से किसी में नहीं आ सकते। इन उपन्यासकारों का काम यह है कि किसी समय के समाज का चित्र खींच दिया और पात्रों से सहानुभूति दिखाकर, उनकी हँसी उड़ाकर या उन्हें नीचा दिखाकर, पाठकों के चरित्र सुधारने का प्रयत्न किया। परन्तु इनमें भविष्य का चित्र नहीं है। कला में शायद वे प्रेमचन्दजी से अधिक निपुण हों; परन्तु इनमें वह उत्तेजना शक्ति नहीं, कल्पना का इतना विकास नहीं। वे समाज के सामने एक आइना रख सकते हैं जिसे देखकर वह हँसे या कुढ़े; परन्तु उस आइने

के पीछे कोई चित्र नहीं, जिसकी सुन्दरता तक पहुँचने के लिए उसके हृदय में उत्तेजना हो।

'प्रेमाश्रम' के उपन्यास-पट पर सामने तो १९२१ के भारतीय समाज का स्पष्ट चित्र है और पीछे किसी भावी भारत की छाया है। ऐसे चित्र का क्या नामकरण हो? क्या 'प्रेमाश्रम' दार्शनिक उपन्यासों की श्रेणी में रखा जाय? श्रेणी-बद्ध करना समालोचक के काम को सरल करना है, परन्तु हम ऐसा करने में असमर्थ हैं। अस्तु, चाहे जो कठिनता हो, हम बिना नामकरण किये ही इसका अवलोकन करते हैं।

उपन्यास की भूमिका प्रायः यों होती है—कोई पहाड़ी दृश्य है, प्रकृति का कोई विलक्षण आभास है। पात्रों के दर्शन हुए। कोई राजकुमार है, तो कोई उसका सखा है, या बैरी है। दैवयोग से किसी नवयौवना से भेंट हो जाती है। वह भी कोई राजकुमारी है। पर उसका पिता विवाह के लिए राजी नहीं होता। बहुत-सी कठिनाइयों के बाद—जिस में और भी उसी मेल के पात्र अपना दर्शन देते हैं—मिलन या प्राणान्त का विवरण देकर कहानी समाप्त होती है।

यहाँ सुक्खू चौधरी, बलराज, रबी की फसल, नौकरी और साम्य-वाद को कौन पूछता है! बड़े-बड़े राजमन्दिरों, किलों और उनके तिलिस्मों के मुकाबले बिचारे लखनपुर या हाजीपुर के झोपड़ों को कौन देखता है! सेवासदन का प्रसंग तो शायद प्रचलित उपन्यासों के पाठक समझ सकें। प्रेमाश्रम में क्या है! भला दुखरन भगत, मनोहर, गौसखाँ, कादिर मियाँ और बेगार के दिहाती झगड़ों में क्या मनोरंजन!

यह प्रेमचन्द जी का ही काम था कि वे दिहाती झगड़ों का करुणा जनक दृश्य दिखाने में सफल हुए हैं। यों तो राय कमलानन्द, गायत्री, विद्या, ज्ञानशंकर, ज्वालासिंह, डा० इर्फानअली के राग-रंग नगर-निवासियों के हैं; परंतु उनका अस्तित्व दिहात ही से है। सुक्खू, विलासी, मनोहर, बलराज, कादिर मियाँ—ये सब तो पूरे दिहाती ही हैं।

चरित्र-चित्रण-कला को जाने दीजिए। शायद और किसी समय

दिहात और बेगार, मुकदमेबाजी और नौकरी के प्रश्न इतने रुचिकर न होते, पर यह उपन्यास सन् १९२१ का लिखा हुआ है और उस वर्ष के अन्दर जितना आन्दोलन और राजनीतिक ज्ञान दिहातों में पहुँच गया, उतना शायद ही साधारणतः पचास वर्षों में पहुँचता।

प्रेमाश्रम हाजीपुर का दूसरा नाम है, परंतु उपन्यास की नींव में लखनपुर है। वह बनारस के पास हो या कलकत्ते के—इससे कोई प्रयोजन नहीं। सुक्खू चौधरी के-से पंच, कादिर मियाँ के-से नरम देहाती नेता, मनोहर के-से अक्खड़ किसान, बलराज के-से उदार-हृदय और बलिष्ठ नवयुवक भारतवर्ष के प्रत्येक गाँव में देख सकते हैं। यों तो वे बहुत समय से अज्ञानावस्था का सुख भोगते चले आ रहे थे। उनके प्रभाशङ्कर के-से जमींदार थे, जिनको अभी तक पाश्चात्य सभ्यता की हवा नहीं लगी थी, जो अभ्यागतों के सम्मान में अपनी इज्जत समझते थे, जिनको अपने असामियों के प्रति सहानुभूति थी, जिन्हें उनके विरुद्ध अदालत जाने में संकोच होता था। ऐसे समय जमींदार भी सुखी थे और उनके किसान भी।

परंतु इधर पाश्चात्य सभ्यता का आगमन हुआ। चीजों की निर्ख बढ़ीं, सो तो ठीक ही था; मालिकों की आवश्यकताएँ भी बढ़ीं। जिन जमींदारों के पुरखे बहलियों पर चढ़ते थे; घुटने के ऊपर तक धोती और चार आने सिलाई का अँगरखा या मिर्जई पहनते थे, उनकी संतानों के लिए मोटर की सवारी, लम्बी रेशमी किनारे की धोती और साहबी ठाट की आवश्यकता पड़ने लगी। दिहात की उन्नति कौन करता है! इजाफा और बेदखली का अत्याचार होना आवश्यक था।

अभी तक लखनपुर पर सिर्फ उन्हीं मनुष्यों का अत्याचार है जो वर्षा-ऋतु के बाद गांवों पर धावा करते हैं। अभी ज्ञानशंकर ने जमींदारी पर हाथ नहीं लगाया। इसलिए, अभी मनोहर के साथियों का यही विचार है कि अँगरेज हाकिम अच्छे होते हैं। परंतु इधर प्रभाशंकर

का बुढ़ापा, जमीदारी की आमदनी से ज्यादा खर्च, और इधर ज्ञानशंकर पर पश्चिमी शिक्षा का प्रभाव और यौवन की उमंग ! ज्ञानशंकर ने हर तरफ हाथ बढ़ाना शुरू कर दिया । बस, इनके पदार्पण से उपन्यास का प्रादुर्भाव होता है ।

यह तो मान ही नहीं सकते कि इस उपन्यास में नायक और नायिका है ही नहीं । यदि चरित्र की उज्ज्वलता पर ही ध्यान दिया जाय, तो एक ओर प्रेमशंकर और दूसरी ओर विद्या—यही पात्र लेखक के आदर्श मालूम पड़ते हैं । लखनपुर में कादिर मियाँ और शहर में राय कमलानन्द, इन पात्रों की ओर भी लेखक का आदर भाव है; परंतु हमारा विचार है कि चरित्र की उज्ज्वलता ही की कसौटी पर हम नायक तथा नायिका की परख नहीं कर सकते । देखना यह चाहिए कि किस चरित्र के चित्रण में लेखक ने अधिक परिश्रम किया है । किस पात्र के सहारे कहानी आगे बढ़ती है और किसके न होने से उसका अंत हो जाता है । बंकिम की 'दुर्गेश-नंदिनी' में जगतसिंह प्रेमी है और तिलोत्तमा उसकी प्रेमिका; परंतु आयेशा उपन्यास की नायिका है । 'सेवासदन' में उपन्यास को सुमन का सहारा है; यद्यपि चरित्र बिट्ठल-दास का ही आदरणीय है । इस उपन्यास में ज्ञानशंकर का चरित्र आदरणीय नहीं है । गायत्री भी विद्या के सामने तुच्छ मालूम पड़ती है; परंतु हैं ये ही उपन्यास के नायक और नायिका । ज्ञानशंकर न होते तो कोई लखनपुर का नाम ही न सुनता । इतिहास तो विपत्तियों का ही लिखा जाता है । देखिए न, भविष्य में समृद्धिशाली, सुखमय लखन-पुर की झलक दिखाने में लेखक ने कितने कम पन्ने रँगे हैं । यदि प्रभा-शंकर मालिक बने रहते तो मनोहर से क्यों झगड़ा उठता, इजाफे की क्यों तजबीज होती ! उपन्यास के लिए एक शिक्षित, उत्साही ऐश्वर्य-लोलुप परंतु चरित्रहीन नायक की आवश्यकता थी ! ज्ञानशंकर की सृष्टि करना लेखक के लिए आवश्यक था ।

ज्ञानशंकर का चरित्र बहुत जटिल है । एक भारतीय नवयुवक पर

पश्चिमी शिक्षा की नयी रोशनी का प्राथमिक प्रभाव क्या पड़ता है, यह बहुत ही खूबी के साथ दिखलाया गया है। यह बात नहीं थी कि उक्त शिक्षा ने उसकी भारतीय आत्मा को ही नष्ट कर दिया हो। जब कभी किसी पवित्र आत्मा के सामने उसकी ऐश्वर्य-लोलुपता का परदा हट जाता है, तो हमें उसकी अंतरात्मा के मधुर प्रकाश की झलक देख पड़ती है ; परंतु फिर परदा गिर जाता है और ज्ञानशंकर फिर उसी ऐश्वर्य-छाया की ओर बढ़ता हुआ दिखायी देता है। ज्ञानशंकर नायक होते हुए भी अपने भाग्य का विधाता नहीं है। विधाता काल है। वह समझता है कि अपनी चतुरता के बल पर वह अपना भविष्य आनन्द-मय बना सकेगा; परंतु काल उसे भी नचाता है। प्रभाशंकर की भल-मनसाहत, प्रेमशंकर के त्याग, गायत्री की लालसा, ज्वालासिंह के स्वा-भिमान, रायकमलानंद की निष्काम संसारपरता—सभी से वह लाभ उठाता मालूम होता है। पर किसलिए ? पुत्र मायाशंकर के लिए ? क्या यह निश्चित है कि उसकी वृत्ति अपने पिता के पदांक का अनुसरण करेगी ? वह भविष्य जिसके लिए ज्ञानशंकर ने राय कमला-नंद को जहर दिया और गायत्री को फँसाने का प्रेम-जाल रचा, उसके हाथ से निकल कर प्रेमशंकर से मिल गया। राय कमलानंद की भविष्य वाणी पूर्ण हुई—धन सम्पत्ति तुम्हारे भाग्य में नहीं है, तुम जो चालें चलोगे, सब उलटी पड़ेंगी। मनुष्य कितना दीन, कितना परवश है ! और भावी कितनी प्रबल, कितनी कठोर ! ऐश्वर्य-लोलुपता का ऐसा विशाल चित्र हिंदी-साहित्य भर में शायद ही और हो।

उपन्यास के दो अंग हो सकते हैं ; एक सामाजिक, दूसरा राज-नीतिक। ज्ञानशंकर दोनों को बाँधे हुए हैं। पर इन दोनों में एक-एक प्रधान है। सामाजिक अंग पर गायत्री का प्रभुत्व है और राजनीतिक अंग के विधाता प्रेमशंकर हैं।

गायत्री के चरित्र का इजाफे से कोई सम्बंध नहीं है। वह एक बड़ी भारी जमींदारी की मालकिन अवश्य है। उसके प्रबंध के लिए

वह ज्ञानशंकर को बुलाती है। परंतु इन बातों का उसके चरित्र से कोई विशेष सम्बंध नहीं है। उसमें धर्मनिष्ठा है; परंतु साथ ही सुख-भोग की सामग्री भी उसके पास बहुत है। सुमन सधवा थी, उसका पतन समाज की कुरुचि और उसकी दरिद्रता ने किया। गायत्री का पतन उसमें धर्म-निष्ठा होते हुए भी सांसारिक लालसा से होता है।

'आँख की किरकिरी' में माया (विनोदिनी) का पतन दूसरी तरह होता है। रवींद्रनाथजी ने एक ही भाव को लेकर हर पहलू से उसे दिखाया है। माया का लालसामय प्रेम सामाजिक बंधनों को तोड़ कर नग्न रूप में अपनी कला के बल से हमें चकित अवश्य कर देता है, पर विचारपूर्वक देखिए, तो यह हिंदू-समाज के लिए स्वाभाविक नहीं है। गायत्री का पतन धर्म-जाल की ओट से होता है। उसे नहीं मालूम होता है कि वह किधर जा रही है और जब अकस्मात् उसके सामने पाप का अंधकारमय गढ़ा दिखायी देता है, तो फिर वह समाज को अपना मुँह नहीं दिखाती। हिंदू विधवा का पतन यों ही होना स्वाभाविक है।

जीवित उदाहरणों को किसी तीर्थ में जाकर देखिए। जिस धर्म के नाम पर व्यभिचार होता है, उसके सजीव प्रतिबिंब गायत्री और ज्ञानशंकर के चित्र में है। सुमन का उद्धार करना आवश्यक था, नहीं तो सेवासदन का विकास ही न होता। गायत्री के उद्धार की कोई आवश्यकता नहीं थी इसीलिए लेखक ने उसे चार सतरों के अन्दर अनंत विस्मृति में विलीन कर देना ही ठीक समझा। ज्ञानशंकर के लिए भी ऐसा ही अन्त होना जरूरी था।

उपन्यास का वह अंश अधिक करुणामय है, जिसमें लखनपुर की गाथा है। इस अंश के प्रधान पात्र प्रेमशंकर हैं। यदि पश्चिमी शिक्षा का एक फल ज्ञानशंकर की ऐश्वर्य-लोलुपता में है, तो दूसरा फल प्रेम-शंकर की निष्काम जाति-सेवा में है। जिस समुद्र में हलाहल विष है,

उसमें अमृत भी है। प्रेमशंकर उस शिक्षा के अमृत-रूपी फल हैं। कुछ मित्रों का ख्याल है कि प्रेमशंकर में गाँधी जी की छाया है। हम लेखक के मन की थाह लेने का साहस तो नहीं कर सकते; हमें तो इस पात्र में महर्षि टाल्सटाय के चरित्र की छाया दिखायी पड़ती है।

ज्ञानशंकर चाहते हैं कि प्रेमशंकर को गाँव का आधा हिस्सा न देना पड़े। इसके लिए क्या-क्या जाल रचे, श्रद्धा को कहाँ तक भरा, बिरादरी को कहाँ तक उभाड़ा। परंतु प्रेमशंकर अमेरिका से और ही पाठ सीख आये हैं। उन्हें साम्यवादियों के मतानुसार एक आदर्श कृषक-संस्था तैयार करनी थी ; गाँव को तिलांजलि दे दी और जाति-सेवा में लीन हो गये। श्रद्धा छूट गयी ; उसका उन्हें समय-समय पर शोक होता है। भाई से बिगाड़ हो गया, इसके लिये भी उनकी आत्मा को क्लेश होता है ; पर वे अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होते। इसीलिए लेखक ने भी भविष्य की बागडोर को उनके हाथ से नहीं जाने दिया।

प्रेमशंकर हाजीपुर को एक साम्यवादी गाँव बना देते हैं। लखनपुर का उद्धार करते हैं। और मायाशंकर को आदर्श जमींदार का पद देने में सफल होते हैं। प्रेमशंकर के संसर्ग में जो पात्र आया उसको उन्होंने पवित्र कर दिया। उद्दंड मनोहर स्वार्थी ज्ञानशंकर, और लालसामयी गायत्री इस योग्य नहीं थे ; इसीलिए लेखक ने इनका अन्त ही कर दिया। सुक्खू चौधरी वैरागी हो गया, ज्वालासिंह डिप्टी कलक्टरी छोड़कर जाति-सेवा में रत हुए, डाक्टर इर्फानअली ने वकालत छोड़ दी और डाक्टर प्रियनाथ एक सर्वप्रिय डाक्टर हो गये, यहाँ तक कि पतित दयाशंकर का भी उन्होंने अपनी सुश्रूषा से उद्धार कर दिया। प्रेमशंकर का जीवन एक प्रकार श्रद्धा के बिना अपूर्ण-सा था ; सो श्रद्धा और प्रेम का ज्वाला द्वारा सम्मिलन भी हो गया।

और भी पात्र हैं। गाँव के अत्याचारी अँगरेज नहीं हैं। मनोहर और सुक्खू को गौसखाँ तथा साहबों के अहलकारों से ही शिकायत है। ज्वालासिंह न्याय करने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु धोखा खाते हैं, और उन्हें इस्तीफा देना पड़ता है। गौसखाँ का भी वही अन्त हुआ जो अत्याचारी जिलेदारों का होता है। मनोहर की उद्दंडता का भी फल उसे मिल गया। सुक्खू को मनोहर के खेतों की बड़ी लालसा थी; परन्तु गाँव पर विपत्ति आने पर वह उनका नेता हो गया। कादिर मियाँ गाँव के सच्चे सेवक बने रहे। दुखरन भगत पर विपत्ति का दूसरा ही असर हुआ। निराशा ने उसके हृदय में जन्म भर की संचित शालिग्राम के प्रति श्रद्धा उखाड़ कर फेंक दी। बलराज गाँव के भविष्य का युवक है। उसमें जो स्वतंत्रता है, वह किसी में नहीं; क्योंकि उसके पास जो परचा आता है उसमें लिखा है कि रूस में किसानों का राज्य है। यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल हुईं, तो वह भविष्य का बोलशेविक होगा। मनोहर की पतिव्रता गृहिणी विलासी इनके झगड़ों को शांत करने का प्रयत्न करती रहती है, पर गाँव में विप्लव उसी के द्वारा होता है। न उस गाँव की द्रौपदी पर गौसखाँ का अत्याचार होता, न विद्वेष की आग इतनी भड़कती। इस विप्लव के शांत होने पर जो बचते हैं, वे उपसंहार में भावी गवर्नर हिज एक्सिलेंसी गुरुदत्त राय चौधरी और भावी जमींदार मायाशंकर के समय में रामराज्य का सुख-भोग करते हुए दर्शन देते हैं। उपन्यास-लेखक के साथ हम भी कहते हैं—"तथास्तु"।

कथा-प्रसंग के परे और भी पात्र हैं। राय कमलानन्द का चित्र विशेषकर भावमय है। मालूम नहीं कि यह उपन्यास-लेखक के मस्तिष्क से निकले हैं या इनकी जोड़ के इस संसार में कोई हैं भी। इनका जीवन सांसारिक विलास में मग्न है। पर इससे इनके पौरुष में कोई अन्तर नहीं आता। इनकी योग-क्रियाएँ इसीलिये थीं कि जीवन की चरम सीमा तक सुख भोग कर सकें। इनका आत्मबल

इतना प्रखर था कि ज्ञानशंकर भी उनके सामने नहीं ठहर सका। परन्तु जीवन का आदर्श त्रुटियों से भरा था। ज्ञानशंकर की कुटिलता ने इन्हें भी सच्चा मार्ग दिखा दिया, जिसकी झलक हमें उपन्यास के अन्त में देखने को मिलती है।

विद्या और श्रद्धा के चित्र उल्लेखनीय हैं। दोनों साधारण हिंदू-रमणियाँ हैं। विद्या के चरित्र में कोई विशेषता नहीं है; क्योंकि उसके सामने कोई जटिल समस्या ही कभी नहीं आयी और जब उस पर कष्ट पड़ता है, तो लेखक उसे बर्दाश्त करने योग्य न समझ कर उसका अन्त ही कर देता है। कुटिल ज्ञानशंकर की पतिव्रता पत्नी का यही अंत होना था। श्रद्धा के सामने पहले ही से धर्म और प्रेम की समस्या मौजूद है; पर प्रेमशंकर के चरित्र का अंत में उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि धर्म की शृंखलाएँ ढीली पड़ गयीं। लेखक ने श्रद्धा को प्रेम से मिलाकर दोनों का जीवन सार्थक कर दिया।

'प्रेमाश्रम' में अनेक देहाती पात्र हैं, इसलिए उनके काम में आनेवाले शब्द भी वैसे ही हैं। रिसवत, सरबस, मुदा, मसक्कत, मूरख, सहूर, अचरज, कागद, ये सब दिहातियों के ही शब्द हैं। भाषा सिर्फ करतार की बिगड़ गयी है। वह ठेठ गँवारू है और जितने दिहाती हैं, उनकी भाषा में पूर्वोक्त प्रकार के शब्द आने से लालित्य बढ़ ही गया है। विशुद्ध भाषा के पक्षपाती चाहे नाक-भौं सिकोड़ें; परन्तु हमारी समझ में इससे कोई हर्ज नहीं, यदि छात्रों की भाषा में उनके व्यवहार में आनेवाले ही शब्द रक्खे जायँ। व्याकरण की टाँग तोड़ने के हम भी विरुद्ध हैं। हम यह नहीं चाहते कि बंगाली पात्र की भाषा में लिंग की गलतियाँ की जायँ और अंग्रेज की जबान में तवर्ग के शब्द ही न निकलें; पर यदि पात्रानुसार दो-चार शब्दों के गढ़ देने से उसका अस्तित्व प्रकट या सजीव किया जा सके, तो कोई हानि नहीं। ऐसी दशा में लेखक भाषा को बिगाड़ने का दोषी

नहीं ठहराया जा सकता। इन शब्दों ने दिहातियों के वार्त्तालाप को स्वाभाविक बना दिया है ; उसमें जान डाल दी है। इनसे भाषा को कोई क्षति नहीं पहुँचती।

अब मनोविकार के चित्र तथा विचित्र उपमाएँ देखिए। वे उपन्यास-धारा की तरंगों पर कमल के फूलों या लेखक के अर्पण किये दीपकों की तरह दर्शन देते चले जाते हैं। 'सेवासदन' लेखक के खजाने को खाली नहीं कर सका। 'प्रेमाश्रम' की उक्तियाँ वैसी ही नवीन और हृदयग्राही हैं, जैसी कि पहले उपन्यास की।

मनोविकार-चित्रण ने लेखक की बात रख ली है। "मानव, चरित्र न बिलकुल श्यामल होता है न श्वेत। उसमें दोनों रंगों का विचित्र "मिश्रण होता है।" प्रेमशंकर को अपनी जाति-सेवा में भ्रातृ-विद्वेष की झलक मालूम पड़ती है। ज्ञानशंकर को अन्त में अपनी स्वार्थपरता का अनुभव होता है। राय कमलानन्द को सांसारिक आनन्द में रत रहने का फल भोगना पड़ता है। केवल विद्या और कादिर मियाँ के चरित्र निर्मल हैं ; और यह शायद इसलिये कि लेखक ने उन पर अधिक प्रकाश नहीं डाला। इस चित्रण कौशल का यह फल है कि किसी पात्र से हम घृणा नहीं करते और न किसी को आदर्श ही मानते हैं।

परिशिष्ट

उपन्यासकार की हिन्दी-सेवा

परिचय—बाबू प्रेमचंद जी का असली नाम धनपतराय था। आपका जन्म सन् १८८० में एक प्रतिष्ठित कायस्थ-कुल में हुआ था। आरम्भ में इन्होंने उर्दू-फारसी की शिक्षा पायी। सन् १८९९ के लगभग मैट्रीकुलेशन पास किया और ये एक स्कूल में अध्यापक हो गये। उस समय इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी और लगभग २०) मासिक ही इन्हें मिलते थे, परन्तु इन्होंने किसी प्रकार बी० ए० पास कर लिया। इसके कुछ समय बाद राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रभावित होकर इन्होंने नौकरी छोड़ दी।

हिन्दी के क्षेत्र में—उर्दू में सन् १९०१ के लगभग ही इन्होंने कहानियाँ लिखना शुरू कर दिया था। ५-६ वर्ष बाद ये उपन्यास भी लिखने लगे। अपने समय के ये उर्दू के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक थे और आपकी कहानियाँ उर्दू के सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्र 'जमाना' में आदर से स्थान पाती थीं। सन् १९१० के आसपास से ये अपनी उर्दू कहानियों और उपन्यासों का रूपांतर हिन्दी में करने-कराने लगे। यों इन्होंने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। लगभग २५ वर्ष तक हिंदी में कहानियाँ और उपन्यास लिखकर इन्होंने अक्षय कीर्ति प्राप्त की। 'मर्यादा' और 'माधुरी' का सम्पादन भी इन्होंने कुछ समय तक किया। तत्पश्चात्, सरस्वती प्रेस, बनारस की स्थापना करके 'हंस' (मासिक) और 'जागरण' (साप्ताहिक) का संचालन-सम्पादन किया। सिनेमा में भी ये कुछ दिन काम करने गये थे।

हिन्दी-सेवा

कलापूर्ण मौलिक कहानियाँ—प्रेमचंदजी ने लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं। उपन्यासों से अधिक इनकी कहानियों का प्रचार है और उनमें उपन्यासों से अधिक मार्मिकता भी है जो हृदय की चुटकी लेती है। संपूर्ण जीवन की समस्त परिस्थितियों की मार्मिक विवेचना इनकी कहानियों में मिलती है और जिन कहानियों में हर्ष-शोक, सुख-दुख, ममता-कर्तव्य आदि विपरीत भावों का द्वंद्व है, वे उच्च कोटि की हैं।

श्रेष्ठ मौलिक उपन्यास—उपन्यास के क्षेत्र में भी इन्होंने मौलिक और आदर्श कार्य किया। हिंदी के, वास्तव में, यही सर्वप्रथम साहित्यिक उपन्यास लेखक हैं। मौलिकता की दृष्टि से भी इनका बड़ा महत्व है। इनके उपन्यास

हमारे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। सबसे महत्वपूर्ण कार्य, इस प्रसंग में, उनका यह है कि तत्कालीन उपन्यासों और कहानियों के क्षेत्र में उन्होंने युगांतर उपस्थित किया। उनके पहले हिंदी में जो उपन्यास लिखे गये थे, उनका प्रचार बहुत हुआ था। यद्यपि उनसे पाठकों का मनोरंजन अवश्य होता था, तथापि उनमें जनता की रुचि उन्नत बनाने अथवा उसमें संस्कार करने की क्षमता नहीं थी। यह कार्य प्रेमचंद जी की कृतियों ने किया; कथा-कहानियों को सुन्दर साहित्यिक रूप देकर जनता की रुचि को इन्होंने उन्नत और परिष्कृत किया।

अतः प्रेमचंद ही हिंदी के प्रथम कहानी और उपन्यास लेखक हैं, जिनकी साहित्यिक और मौलिक कृतियों का उर्दू, मराठी, गुजराती, जापानी, बँगला, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। अब तक हमने इन भाषाओं की कहानियों और उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद करके अपना मनोरंजन किया था। कह सकते हैं कि प्रेमचंद जी ने इस ऋण को अदा करने की ओर पहला कदम बढ़ाया था।

मणि-कांचन-संयोग—प्रेमचंद जी के प्रायः सभी उपन्यासों, और अधिकांश कहानियों में, पाठकों के लिये कुछ न कुछ उपदेशात्मक संदेश अवश्य है और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा नैतिक, प्रायः सभी कुरीतियों की उन्होंने आलोचना भी की है। इसके लिए उन्होंने ऐसे मीठे ढंग को अपनाया कि उससे पाठकों का मनोरंजन तो होता ही है, किसी प्रकार की कटुता का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार उनकी रचानाओं में 'शिवं सुंदरं' का मणि-कांचन-संयोग देखने में आता है।

मनोवैज्ञानिक चित्र—दूसरी बात इनकी कृतियों के सम्बन्ध में यह भी कही जा सकती है कि वे मनुष्य जीवन की साधारण से साधारण घटना को लेकर उसका निष्कर्ष निकालते समय मनुष्य हृदय के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों को मनोविज्ञान के नियमों के ढंग पर ऐसा सजा कर धर देते हैं कि देखते ही बनता है।' दूसरे शब्दों में, 'मनुष्य-जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति का मनोवैज्ञानिक चित्र इन्होंने खींचा है।

चरित्र चित्रण की स्वतंत्रता—चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी हिन्दी के लेखकों में इनका विशेष स्थान है। इनके सब पात्र स्वच्छन्द जीवित नर-नारी हैं। जान पड़ता है कि सबको उन्होंने बोलने-चलने-फिरने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी है और जो वे कहते हैं उसी का चित्र ये खींचते जाते हैं।

यथार्थ और आदर्श का समन्वय—उनकी रचनाओं की एक और विशेषता है। इन्होंने न तो 'उग्र' जी की तरह यथार्थ के नाम पर सामाजिक नग्नचित्र खींचे हैं और न आदर्श के पीछे पड़कर वे उपदेशक ही बन गये हैं। एक निपुण चित्रकार की तरह उन्होंने यथार्थ का उतना ही चित्रण किया है जितना विषय को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है और कुशल कलाकार की तरह आदर्श की ओर उतना ही संकेत किया है जितना सहृदय समाज के लिए उपयोगी है।

जनता के साहित्यकार—अंतिम बात यह है कि प्रेमचंद जी जनता के साहित्यकार हैं। उनके प्रधान उपन्यासों और अधिकांश कहानियों का विषय उन दीन हीन, निर्धन, निरीह कृषकों की ग्राम-समस्या है जिसका सम्बन्ध समाज और राजनीति दोनों से है। उन्होंने पूँजीपतियों का गुणगान न करके इन दीन-दुखियों को अपनाया है। इससे हमें उनकी विशालहृदयता पता हो सकता है। जिस दिन हमारे किसान शिक्षित होंगे उसी दिन प्रेमचंद जी का वास्तविक मूल्य मालूम होगा, तभी वास्तव में उनका सम्मान होगा, क्योंकि उन्हें प्रेमचन्द जी की कृतियों में वह चीज मिलेगी जो हिन्दू-समाज को तुलसी-कृत रामायण में मिलती है।

स्वागत-सम्मान—प्रेमचन्द की रचनाओं का सारे भारत में प्रचार हुआ: जनता ने उनका आदर से स्वागत किया। हमारे साहित्यिक भी उनका हृदय से सम्मान करते हैं। हिन्दी की प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं ने उन्हें अपना सभापति तो नहीं बनाया और न उनकी रचनाओं को पुरस्कृत ही किया, फिर भी सभी हिंदी-भाषियों के हृदय में प्रेमचन्द जी ने घर कर लिया है और प्रतिदिन उनकी रचनाओं का प्रचार बढ़ता जाता है। उनके 'कर्मभूमि' नामक उपन्यास पर हिन्दुस्तानी एकेडमी से ५००) का पुरस्कार मिला था। उनके ग्रंथ ये हैं—

प्रसिद्ध उपन्यास—'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' 'निर्मला', 'वरदान', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान'।

कहानी-संग्रह—'प्रेम-द्वादशी', 'प्रेम-पूर्णिमा', 'प्रेम-पचीसी', 'प्रेम-प्रसून', 'नवनिधि', 'सप्त-सरोज', 'मानसरोवर' (आठ भाग)।

नाटक—'कर्बला', 'संग्राम', 'प्रेम की वेदी'।

निबंध-संग्रह—'कुछ विचार'।

प्रेमचन्द के विषय के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं

है। कारण, उन्होंने केवल कहानियाँ और उपन्यास ही अधिक लिखे हैं। 'मर्यादा', 'माधुरी', 'हंस' और 'जागरण' के सम्पादक होकर उन्होंने जो सम्पादकीय नोट और निबंध लिखे थे उनका विषय प्राय: गम्भीर है। उनके उपन्यासों और कहानियों में भी अनेक गम्भीर स्थल हैं। अत: शैली में विशेष अन्तर नहीं है।

भाषा

उर्दू के जो लेखक हिंदी में आते थे, प्राय: उनकी भाषा में एक दोष यह रहता था कि वे अपने साथ उर्दू भाषापन ले आते थे जो हिंदी की प्रकृति से मेल न खाने के कारण इसमें मिलता नहीं, खटकता रहता था। प्रेमचन्द जी ने सन १९१० के आसपास जब हिंदी में लिखना शुरू किया तब उर्दू की उन्हीं विशेषताओं को अपनाया जो हिन्दी में घुल-मिल सकती थीं; साथ-साथ वे इसकी प्रकृति का भी बराबर ध्यान रखते रहे। फल यह हुआ कि कथा साहित्य के निर्माताओं में अनुवादों की अधिकता के कारण भाषा-विषयक जो उपेक्षा का भाव आ गया था, प्रेमचन्द जी उसका संस्कार कर सके और जनता के सामने भाषा का साहित्यिक तथा परिमार्जित रूप भी रख सके जिसको अपनी रुचि, उद्देश्यादर्श और संस्कार के कारण थोड़ा बहुत परिवर्तित करके उनके परवर्ती कलाकारों ने सहर्ष अपना लिया।

'गोदान' की भाषा सीधी सादी और प्रवाहपूर्ण है। सजाने-सँवारने का प्रयासपूर्ण प्रयत्न न किये जाने के कारण उसमें जलधारा-सा, विषय-स्थिति के धरातल के उपयुक्त, प्रवाह है। दैनिक जीवन में पारस्परिक संलाप के लिए भाषा पर जिस प्रकार नियंत्रण रखने की आवश्यकता नहीं समझी जाती, उसी प्रकार प्रेमचंद जी ने भी अपने पात्रों को रुचि, संस्कार और योग्यता के अनुसार स्वच्छंद भाषा का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता दे रक्खी थी।

भाषा मनोभावों की व्यंजना का साधन है। रुचि और संस्कार का प्रभाव जिस प्रकार व्यक्ति के विचारों पर पड़ता है उसी प्रकार भाषा पर भी। उपन्यास के सभी पात्र प्राय: एक ही संस्कार या आदर्श के नहीं होते। इसलिए सबकी भाषा भी समान नहीं होगी। इस भिन्नता का मूल कारण वातावरण की वह असमानता है जिसमें विभिन्न पात्र जन्मे और पले हैं। कारण, व्यक्ति और भाषा की प्रकृति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रेमचन्द के सभी पात्रों को स्थूल रूप से हम दो वर्गों में रख सकते हैं—(१) ग्रामीण (२) नागरिक। ग्रामीण पात्रों में सबों की भाषा मिलती-जुलती है। 'गोदान' में तो कोई मुसलमात

ग्रामीण पात्र न होने से उसकी भाषा में भिन्नता का प्रश्न ही नहीं उठता; अन्य उपन्यासों में भी जहाँ हिंदू और मुसलमान, दोनों बसते हैं, वहाँ प्राय: एक ही भाषा बोली जाती है। अंतर केवल इतना है कि हिंदुओं की भाषा में संस्कृत शब्दों के तत्सम रूप अधिक मिलते हैं और मुसलमानों में अरबी-फारसी के। 'प्रेमाश्रम' के ग्रामीणों की भाषा में यह बात देखी जा सकती है।

प्रेमचन्द जी के इन उपन्यासों के ग्रामीण हिंदू पात्र साधारणत: दो वर्गों में रखे जा सकते हैं—(१) द्विजाति-वर्ग जिसमें ब्राह्मण-ठाकुर मुख्य हैं; और दूसरे शूद्र, जिसमें किसान हैं। प्रथम वर्ग वालों की भाषा की विशेषता यह है कि उसमें कभी-कभी संस्कृत के दो-चार व्यावहारिक तत्सम शब्दों का प्रयोग भी मिल जाता है। 'गोदान' में पंडित दातादीन की भाषा में यह बात ध्यान देने की है।

नागरिक पात्रों में हिंदू-मुसलमान दोनों हैं और दोनों की भाषा भिन्न है। मुसलमान पात्र तो अरबी-फारसी-प्रधान भाषा में बातचीत करते ही हैं; हिंदू पात्रों को भी जब उनसे बोलना पड़ता है तब ये अपनी भाषा की शुद्धता का बंधन ढीला कर देते हैं। बात यह है कि विचार-विनिमय करते समय हम अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए प्राय: ऐसे शब्द चुनते हैं जिन्हें सुननेवाला सरलता से समझ ले। इसी तथ्य के अनुसार मुसलमानों से बात करते समय हिंदू पात्र संस्कृत के लोकप्रिय शब्दों के स्थान पर कभी-कभी अरबी-फारसी के तत्सम शब्द चुन लेते हैं। प्रेमचन्द जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में ही यह बात दिखायी देती है, 'गोदान' में नहीं,। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' आदि उपन्यासों में मुसलमान पात्र जो भाषा बोलते हैं उससे हिंदी वालों को कभी संतोष नहीं रहा; उसका बराबर विरोध ही किया गया। प्रेमचन्द जी का उद्देश्य ऐसी भाषा लिखने से केवल इतना था कि व्यवहार की स्वाभाविकता बनी रहे, परन्तु हिंदी के आलोचकों का विरोध होने पर उन्होंने मुसलमान पात्रों की भाषा में स्पष्ट परिवर्तन कर दिया। नीचे के अवतरण देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

१—अब्दुललतीफ—जनाब हमारे कौम की कुछ न कहिए। खुदगरज, खुदफरोश, खुदमतलब, कजफहम, कजरौ, कजबी जो कहिए थोड़ा है। बड़े बड़ों को देखिए, रँगे हुए सियार हैं, रियाफा जामा पहने हुए आप की जात मस्दरे बरकात है। ऐसा मालूम होता है कि खुदाताला ने मलायक में से

इन्तखाब करके आप को इस खुदनसीब कौम पर नाजिल किया है—सेवासदन, पृष्ठ १९४।

२— मेरी यह इल्तजा आपको कबूल करनी होगी। खुदा ने आपको यह दर्दमंद दिल अता किया है। क्यों नहीं, आप लाला जटाशंकर मरहूम के खलफ हैं जिनकी गरीबपरवरी से सारा शहर मालमाल होता था। यतीम आपको दुआएँ देंगे और अंजुमन हमेशा आपकी मसनून रहेगी। ×××। दुआ कीजिए कि खुदा मुझे भी क़नाअत की दौलत अता करे और मैं भी आपकी सोहबत से फैज उठाऊँ—प्रेमाश्रम, पृष्ठ ३५२।

३—ताहिर अली—जानता हूँ, इतना जानता हूँ, शराफत से बईद है; लेकिन मैं शरीफ नहीं हूँ, पागल हूँ, दीवाना हूँ, शराफत आँसू बनकर आँखों से बह गयी। जिसके बच्चे गलियों में, दूकान पर भीख माँगते हों, जिसकी बीबीं पड़ोसियों का आँटा पीसकर अपना गुजर करे, जिसकी कोई खबर लेने-वाला न हो, जिसके रहने का घर न हो, जिसके पहनने को कपड़ा न हो, वह शरीफ नहीं हो सकता—रंगभूमि (दूसरा भाग), पृष्ठ ४२५।

४—मिर्जा खुर्शेद—और मैं कहता हूँ कि यह महज रोजी का सवाल है। हाँ, यह सवाल सभी आदमियों के लिए एक-सा नहीं है। मजदूर के लिए वह महज आटे-दाल और एक फूस की झोपड़ी का सवाल है। एक वकील के लिए वह एक कार और बँगले और खिदमतदारों का सवाल है। आदमी महज रोटी नहीं चाहता और भी बहुत सी चीजें चाहता है। अगर औरतों के सामने भी वह प्रश्न तरह-तरह की सूरतों में आता है तो उनका क्या कुसूर है—गोदान, पृष्ठ ४४२।

पहले दो अवतरण क्लिष्ट भाषा के हैं, जिन्हें साधारण पाठक अच्छी तरह समझ नहीं सकता। अंतिम दो परिच्छेद अपेक्षाकृत सरल है और उनमें प्रयुक्त 'शराफत से बईद' जैसे प्रयोग भाषा को हिंदूपात्रों की भाषा से अलग कर देते हैं।

मुसलमान पात्रों से बात करते समय संस्कृत की तत्समता के प्रेमी हिंदू पात्र भी उन्हीं की सी मिलती-जुलती भाषा में उत्तर देते हैं। केवल दो अवतरण देखिए—

१—विट्ठलदास अबदुलवफा से कहते हैं—मैं इस मेहरबानी के लिए आपका मशकूर हूँ। लेकिन कमेटी ने यह फैसला कर दिया है कि यहाँ इस

किस्म का कोई काम न कराया जाय। इस वजह से मजबूर हूँ—सेवासदन, पृष्ठ १९४।

२—शांतिकुमार सलीम से कहते हैं—मेरे ख्यालात तुम्हें मालूम हैं। यह किराए की तालीम हमारे कैरेक्टर को तबाह किये डालती है। हमने तालीम को भी व्यापार बना लिया है। व्यापार में ज्यादा पूँजी लगाओ, ज्यादा नफा होगा। तालीम से भी ज्यादा खर्च करो, ज्यादा ओहदा पाओगे—कर्मभूमि, पृष्ठ ९९।

'गोदान' में हिंदू पात्र मुसलमानों से बात करते समय बोलते तो यही भाषा हैं परन्तु अब वे कभी-कभी संस्कृत के तत्सम शब्द भी निसंकोच कह जाते हैं ' डाक्टर मेहता ने मिर्जा खुर्शेद से हँसकर कहा—आपने इस प्रश्न पर ठंडे दिल से गौर नहीं किया। रोजी के लिए और बहुत से जरिए हैं। ऐश की भूख रोटियों से नहीं जाती। उसके लिए दुनिया के अच्छे से अच्छे पदार्थ चाहिएँ। जब तक समाज की व्यवस्था ऊपर से नीचे तक बदल न डाली जाय, इस तरह की मंडली से कोई फायदा न होगा—गोदान, पृष्ठ ४४१।

सारांश यह कि 'गोदान' की रचना के समय तक प्रेमचन्द जी का मुसलमान पात्रों की भाषा-संबंधी मत बदल चुका था और यद्यपि मिर्जा खुर्शेद द्वारा 'मुआहदा' मुजाहिम, मकरूज' जैसे दो-चार तत्सम शब्द उन्होंने प्रयुक्त कराये हैं, तथापि उनकी भाषा ने हठधर्मीपन निश्चय ही छोड़ दिया है। प्रेमचन्द जी के सभी उपन्यासों का नामकरण शुद्ध हिंदी शब्दों को लेकर किया गया है; केवल एक उपन्यास का नाम 'गबन' इसलिए रखा गया है कि इस रचना के विषय की ओर इंगित करने वाला दूसरा उपयुक्त शब्द कदाचित् नहीं हो सकता था। विषय की अनुरूपता की रक्षा के लिए उन्होंने भाषा की शुद्धता का ध्यान नहीं रखा। प्रेमचन्द जी की यही मनोवृत्ति सर्वत्र पायी जाती है और सभी उपन्यासों की भाषा में समानता न होने का कारण भी कथावस्तु की भिन्नता ही है।

'गोदान' का अधिकांश भाग ग्रामीण जीवन के चित्रण ने ले लिया है और उसका नायक होरी आदि से अंत तक ग्रामीणों से ही चारों तरफ घिरा होने के कारण कभी शहर के दर्शन तक नहीं करता। इसलिए 'गोदान' की भाषा में ठेठ ग्रामीण अर्द्धतत्सम और तद्भव शब्दों की ही प्रधानता है। इस उपन्यास में प्रयुक्त कुछ प्रचलित घरेलू और ठेठ शब्द ये हैं—उठेगी, घामड़, रजा, गारा, हेठी, महावट, घटाटोप, मनुहार, अदरावन, बौड़ा, चोओं, गड़ाप,

सुरखुरू, नाकिस, ढई, रहैया, कुत्सा, धाड़ेंगे, पैंठ, घिरै, मनावन, उडंकू, नफरी, चँगेरी, जुगाड़, अड़ीन, हून, दौंगड़ा, तरके, टिकौना, कोल्हाड़, हकनाहक, नादिहेंदी, पुछत्तर, झक्कड़ (झक्की), गडमड और लड़ंतिए। अंग्रेजी के इस प्रकार के बहुत से तद्भव शब्दों का प्रयोग सर्वत्र मिलता है—छिच्छा (शिक्षा) हरमुनियाँ, बिलम (विलंब), साखी (साक्षी), जरीबाना, सराप, पुलुस (पुलिस), जैजात (जायदाद), इसटाम (स्टांप) और कालिस (कालेज)। 'गोदान' में प्रेमचन्द जी ने अपने ग्रामीण पात्रों द्वारा कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग कराया है जो शहर के पढ़े-लिखे बाबुओं को और साहित्य के किताबी छात्रों को खटकेंगे। ऐसे शब्द दो प्रकार के हैं। एक वे जिनका अर्थ पढ़ते ही स्पष्ट हो जाता है जैसे—अनघड़, पुछत्तर, पिछलगुआ, तुनुकमिजाज। दूसरे शब्द ऐसे हैं जो साधारण प्रसंग के साथ ही समझ में आते हैं, जैसे—उड़न घाइयाँ, बुड़बकपन, लतिहाउज, अनीली। अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग दोनों रूप में हुआ है—शिक्षित-अशिक्षित पात्रों द्वारा व्यवहृत हुए हैं और लेखक ने स्वयं भी उन्हें अपनाया है। शिक्षित पात्रों की बातचीत में अँगरेजी के कुछ शब्द प्रयुक्त होते हैं। इसलिए प्रेमचन्द जी ने इनका प्रयोग आरम्भ से ही किया है। यथा अमृतराय 'स्पीच' सुनने में तल्लीन थे। × × रटी हुई 'स्पीच' है (प्रतिज्ञा, पृष्ठ १)। पुलिस के 'चार्ज' में छोड़ दिया (कर्मभूमि पृष्ठ २६)। 'वलगर शब्द ही इस आशय को व्यक्त कर सकता है (रंगभूमि पृ० ५०४)। यों इनका प्रयोग स्वाभाविकता की रक्षा करने के लिए ही हुआ है। हाँ, लेखक ने जिन अँग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया है, उनमें से अधिकांश से वह छुटकारा पा सकता था, परन्तु उसने इसकी विशेष चिन्ता न की। कारण, पढ़े-लिखे पात्रों से कार्य-विवरण की व्याख्या करते समय ही उसने प्रायः इन शब्दों को अपनाया है। शिक्षित पात्रों द्वारा प्रयुक्त कुछ अँग्रेजी शब्द ये हैं—कनवेसर, ब्लेडी, नेशनलिस्ट, मेटीरियलिस्ट, चांस, गेम, फेयर, पोजीशन आदि।

कुछ अँग्रेजी शब्द परिभाषिक हैं जिनका प्रयोग अर्थ की संपूर्णता के लिए किया गया है; यथा—अपील, चीफ सेक्रेट्री, प्रोग्राम, वोटिंग, एजेंट, काउंसिल, फीस, नोट, कंपनी, डाइरेक्टर, मेडल, एलेक्शन, पालिसी, फार्म, हाल, पबलिक, मिनिस्टर, कनवेसर, परसेंट, शुगर, इंश्योरेंस, फ्री पास, हाफ टाइम, वीमेंस, लीग, डेपुटेशन, स्पेकुलेशन, डिमाक्रेसी, मैंनिफेस्टो, विजिट, प्रेक्टिस, ग्रेड, एकेडमी, केविनेट, ट्रेजेडी, विजनेस, बकर, थ्री चियर्स, बजट, ड्यूटी, रेकार्ड, इंचार्ज आदि।

इन सब तथा ऐसे ही अनेक अँगरेजी शब्दों का प्रयोग बराबर करते रहने पर भी प्रेमचंद जी ने हिन्दी की प्रकृति का पूरा-पूरा ध्यान रखा है और विदेशी शब्दों के बहुवचन हिंदी-व्याकरण के अनुसार ही बनाये हैं। यहाँ कुछ उदाहरण संकलित हैं--मिनिस्टरों, कौंसिलों, स्टाकों फिलास्फरों, कम्युनिस्टों, थ्योरियों, नेशनलिस्टों, एजेंटों, म्युनिसिपैल्टियों, बोर्डों, बैंकरों आदि। 'अल्टिमेटम' शब्द का प्रयोग 'गोदान' में चार-पाँच बार किया गया है और ध्यान देने की बात है कि प्रायः सर्वत्र लेखक ने ही किया है। अँग्रेजी के 'टाउट' शब्द के लिए लेखक को शायद कोई शब्द नहीं मिला; इसी का प्रयोग उसने 'गोदान' में (२६०) दो-तीन बार किया है।

विदेशी शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में हमें सिर्फ एक बात कहनी है। अँगरेजी के जो छोटे-मोटे शब्द व्यावहारिक भाषा में घुलमिल गये हैं उनका प्रयोग चाहे लेखक ने स्वयं किया हो, चाहे शिक्षित-अशिक्षित पात्रों द्वारा कराया हो, स्वाभाविकता की दृष्टि से भाषा की प्रकृति के अनुरूप ही समझा जायगा। परन्तु प्रेमचन्द जी ने स्थिति, घटना अथवा कथाप्रगति की विवेचना करते समय अँगरेजी या अरबी-फारसी के जिन अप्रचलित या अनावश्यक शब्दों का प्रयोग किया है, उनका समर्थन भाषा-नीति अथवा अकृत्रिमता की दुहाई देकर कदापि नहीं किया जा सकता। ऐसे शब्द हिन्दी में न खप सके हैं और न खपेंगे। हाँ, यह सम्भव है कि अपने सीमित क्षेत्र में कुछ दिन विचरण करने पश्चात् अर्थ में आज की अपेक्षा अधिक विशेषता लाकर अपनी सीमा, शिक्षा की प्रगति होने पर अधिक बढ़ा लें। अस्तु।

प्रेमचन्द जी के पास सहयोगी शब्दों का अक्षय भंडार है। प्रारंभिक उपन्यासों में तो इनका प्रयोग साधारण रीति से ही किया गया है, परन्तु 'गोदान' में इनकी भरमार है और वस्तुतः इन्होंने भाषा की स्वाभाविकता के साथ-साथ उसकी व्यंजना-शक्ति को विशेष क्षमता प्रदान की है। ये सहयोगी शब्द दो प्रकार के हैं—(१) ठेठ शब्द (२) साहित्यिक शब्द। प्रथम से आशय उन सहयोगी शब्दों से है जो ग्रामीण जनता के साथ-साथ नागरिक जन-साधारण में भी प्रचलित हैं। ऐसे कुछ सहयोगी शब्द, जो 'गोदान' में प्रयुक्त हुये हैं, यहाँ संकलित हैं—दाँव-घात, बाँट बखरा, डेढ़ी सवाई, नजर नजराना, घूस घास, बैल बधिये, चिरौरी बिनती, गहने गाठे, जाँच तहकीकात, ताक झाँक, भोज पात, हिस्से बखरे, कर करा, बूढ़े सूखे, पोत लगान, सँभलना सहेजना, सर संदेश, पोथी पत्रा, कथा भागवत, कुल परतिष्ठा, दवा दारू, झाड़ फूंक, डूब धँस, डाँड बाँध, मूड़न छेदन, जगह जमीन, झगड़े टंटे, धर-पकड़,

घूल धक्कड़, खेत खलिहान, मान मनौवल, करज कवाम, सौक सिंगार, ताने मेहने, गाली गलौज, थुक्का फजीहत, बीच बचाव, सेंत मेत, अलल्ले तलल्ले, नालिस फरियाद, लाग डाँट, माँग चोटी, फाँस फूंस, कार परोज, बरतन भाँडे, बाजा गाजा, पेड़ पालो, ठीक ठाक, दान दहेज, बूढ़ा ठेला, जमीन जैजात, लिलाम तिलाम, मोटा महीन, खुली खुर्रमी, घुड़का डांटा, हास विलास, प्रेम श्रेम, चना चबेना, हाल हवाल, रसद चारा, नजर नियाज आदि। इसी वर्ग के कुछ सहयोगी शब्द, 'गोदान' में ऐसे भी मिलते हैं जो उक्त शब्दों की तरह विशेष प्रचलित नहीं हैं, जैसे—लंबे तंगे, इमा सुमा, दम खम, हैस बैस, जेर बार इनमें से एकाध का प्रयोग प्रेमचंद जी ने अन्य उपन्यासों में भी निःसंकोच किया है।

दूसरे प्रकार के सहयोगी शब्द शिक्षित नागरिक पात्रों में ही प्रायः प्रचलित हैं जिनका प्रयोग साधारण जनता तद्भव रूप में कभी कभी कर लेती है। ऐसे कुछ शब्द ये हैं—घात-प्रतिघात, मान-मर्यादा, सेवा-सत्कार। सावधानी से ऐसे शब्दों का संकलन किया जाय तो एक छोटा मोटा कोश तैयार किया जा सकता है।

'गोदान' में प्रेमचंद जी ने कुछ शब्दों का विशेषतासूचक प्रयोग किया है। दो-चार उदाहरण देखिये—

१—रात 'भीग' गई।

२—'बारे' कुशल हुई कि भादों में वर्षा हो गयी—१५१।

३—क्या 'निराला' (निहारमुंह) ही पानी पियोगे।

४—मैं 'कुपद' (अनुचित) तो नहीं कह रहा हूँ।

५—'भाई' शब्द का स्त्री के लिये स्वाभाविक प्रयोग भी एक स्थान पर पर 'गोदान' में मिलता है। होरी अपनी स्त्री की नासमझी से खीझ कर कहता है—जो बात नहीं समझती उसमें टाँग क्यों अड़ाती है 'भाई'! १।

'गोदान' की भाषा कई दृष्टियों से विशेष महत्व की है। परन्तु उसमें दो बातें खटकती भी हैं—

१—कहीं कहीं 'और' का अनावश्यक प्रयोग किया गया है, जैसे—और प्यार और त्याग और शील और प्रेम (३६६)। दया और श्रद्धा और

अनुराग, तालाबों और पोखरों और गढ़इयों, जीवन और दया और धैर्य, मक्का और ज्वार और कोदों।

२—विभिन्न भाषाओं के दो शब्दों को एक पास रखना जरा खटकने वाली बात है। 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' के एक भाषण में इसका बड़ा मजाक उड़ाया गया था। प्रेमचन्द जी ने भी कहीं-कहीं ऐसे जोड़ बना दिये हैं, जैसे-विशेष दिलचस्पी [१२१] तमाशा समाप्त [१२२] जिन्दगी इंश्योर्ड [१४५]।

सारांश यह कि 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' की भाषा में बड़ा अन्तर है। 'प्रेमाश्रम' की रचना के समय हिंदी वाले संस्कृत की और उर्दू वाले अरबी-फारसी की तत्समता-प्रियता के लिए प्रयत्नशील थे। 'गोदान' के समय 'हिंदुस्तानी' नाम से प्रचलित भाषा लिखने का आंदोलन जोरों पर था। इस लिए पढ़े-लिखों की भाषा भी प्रायः एक सी है, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, स्त्री हों या पुरुष, साहित्यिक हों या असाहित्यिक।

(घ) शैली

प्रेमचन्द जी ने उपन्यास और कहानियाँ ही मुख्यतः लिखी हैं। साहित्य के इन अंगों का प्रधान उद्देश्य मनोरंजन है तथा जीवन के सत्य व्यापारों और कार्यों से इनका संबंध स्थापित करके इन्हें उपयोगी बनाने के लिए लेखक में विशेष कौशल अपेक्षित है। अतः उपयोगिता का स्थान गौण समझना चाहिए। कथाकार को इस ओर भी ध्यान रखने की आवश्यकता कदाचित् इसलिए है कि जो समय मनोरंजन में व्यतीत होता है, वह कुछ काम की बात भी जता जाय। मनुष्य के व्यस्त और छोटे जीवन में आज ऐसे सार्थक मनोरंजन की आवश्यकता पहले से बढ़ गई है।

रचना को मनोरंजक बनाने का प्रधान साधन लेखक की शैली है। अत्यन्त प्रिय घटना जिसे सुनने को सभी उत्सुक हैं, यदि अरोचक ढंग से कही जाय तो श्रोताओं को सुनने में आनन्द नहीं देती। इसी तरह साधारण अरुचिकर विषय ऐसे आकर्षक ढंग से लिखा जा सकता है कि अनिच्छुक व्यक्ति भी क्षण भर रुक कर पढ़ने को लालायित हो जाय।

प्रेमचन्द जी की रचना-शैली की यही विशेषता है। आरम्भ में वे उर्दू में लिखते थे और वहाँ उनकी गिनती प्रसिद्ध लेखकों में थी। हिन्दी में

आने पर उर्दू शैली का उनकी लेखन-शैली पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। परन्तु आरम्भ से ही उनकी प्रवृत्ति हिन्दी-शैली की विशेषताएँ अपनाने की ओर रही और शीघ्र ही इस प्रयत्न में वे पर्याप्ति सफलता प्राप्त कर सके। फलतः हिन्दी की अभिव्यंजन शैली के विकास में उन्होंने महत्वपूर्ण योग दिया। उनकी शैली में सर्वत्र एक प्रकार की सरलता है जिसमें भावावेश के कारण सजीवता और बल आ जाता है। जहाँ कोमल भावों की व्यंजना है, वहाँ भाषा मधुर और कोमल हो गयी है; जहाँ क्रोध की उग्रता दिखायी गयी है वहाँ शैली भी उग्र और ओजपूर्ण हो गयी है; जहाँ तिरस्कार, अवहेलना अथवा अपमान सम्बन्धी भाव स्पष्ट किये गये हैं, वहाँ शब्दों का चयन इस ढंग का मिलता है जिससे घृणा का भाव स्पष्ट हो जाय। नीचे के उदाहरण देखिए—

रानी जान्हवी के हृदय में सोफिया के प्रति स्नेह का संचार होता है, तब वह कहती है—बेटी, तुम देवी हो, मेरी बुद्धि पर परदा पड़ गया था, मैंने तुम्हें पहचाना न था। मुझे सब मालूम है बेटी! सब सुन चुकी हूँ। तुम्हारी आत्मा इतनी पवित्र है, यह मुझे मालूम न था। आह! अगर पहले से जानती—रंगभूमि, पृ० ७४२।

ऐसा ही स्नेह बुढ़िया पठानिन के हृदय में संचारित होता है और कृतज्ञ होकर वह कहती है—मेरा बच्चा इस बुढ़िया के लिए इतना हैरान हो रहा है। इतनी दूर से दौड़ा आया। पढ़ने जाते हो न बेटा, अल्लाह तुम्हें बड़ा दर्जा दे—कर्मभूमि, पृष्ठ ४९।

परन्तु जब इन्हीं दोनों स्त्रियों को कारणवश क्रोध आ जाता है तब शैली ओजपूर्ण हो जाती है। उसी सोफिया से रानी जान्हवी कहती है—मैं राजपूतनी हूँ, मरना भी जानती हूँ और मारना भी जानती हूँ। इसके पहले कि मैं तुम्हें विनय से पत्र-व्यवहार करते देखूँ, तुम्हारा गला घोंट दूँगी—रंगभूमि, पृ० २५८।

बुढ़िया पठानिन भी क्रोध में आकर उसी अमरनाथ से आग भरे शब्दों में कहती है—होश में आ छोकरे! बस, अब मुँह न खोलना, चुपचाप चला जा, नहीं आँखें निकाल लूँगी। तू है किस घमंड में? खबरदार, जो कभी इधर का रुख किया। मुँह में कालिख लगा कर चला जा—कर्मभूमि, पृ० १७५।

गोबर के साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित करने के पश्चात् भोला अहीर की लड़की झुनिया जब होरी के घर आती है तब यह भी अपनी स्त्री धनिया से कठोर स्वर में कहता है—मैं यह कुछ नहीं जानता। हाथ पकड़ कर घसीट लाऊँगा और गाँव के बाहर कर दूँगा। बात तो एक दिन खुलनी ही है, फिर आज ही क्यों न खुल जाय। वह मेरे घर आयी क्यों ? × × × जाय जहाँ उसके सगे हों। हमारे घर में उसका क्या रखा है ? *** हमें क्या करना है, मरे या जिये। जहाँ चाहे जाय—गोदान, पृ० १९९-२००।

परन्तु दूसरे ही क्षण द्वार खुलते और होरी को आते देखकर झुनिया जब भय से काँपती हुई उठी और होरी के पैरों पर गिर पड़ी, तब उसने झुक कर उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए प्यार भरे स्वर में कहा—डर मत बेटी, डर मत। तेरा घर है, तेरा द्वार है, तेरे हम हैं। आराम से रह। जैसे तू भोला की बेटी है वैसी ही मेरी बेटी है। जब तक हम जीते हैं किसी बात की चिंता मत कर। हमारे रहते तुझे कोई तिरछी आँखों से भी न देख सकेगा—गोदान, पृ० २०१।

इसी प्रकार 'जहाँ भावों का उद्‌गार हृदय की ज्वालामुखी फाड़कर निकलना' चाहता है, वहाँ तो शैली ऐसी ही बलशाली हो गयी है, और जहाँ किसी मार्मिक अथवा सुन्दर मनोहारी दृश्य या भाव को स्पष्ट करना होता है, वहाँ शैली में सरस अलंकारों की उन्होंने योजना की है। इससे भी शैली में विशेष सजीवता आ जाती है। उदाहरण के लिए—

(१) गंगा ने उन्हें पकड़ने को हाथ फैलाये, पर उसके दोनों हाथ फैले ही रह गये, जैसे किसी गोली खाकर गिरने वाली चिड़िया के पंख खुले ही रह जाते हैं—सेवासदन, पृ० १४।

(२) एक ही क्षण में वसंतकुमार लहरों में समा गये। केवल कमल के फूल पानी पर तैरते रह गये; मानों जीवन का अन्त हो जाने के बाद उसकी अतृप्त लालसा अपनी रक्त रंजित छटा दिखा रही हो—प्रतिज्ञा, पृ० ३३।

(३) उसका कोमल गात ऐसा कृश हो गया था मानों किसी हास्य की प्रतिध्वनि हो, मुख किसी वियोगिनी की पूर्व स्मृति की भाँति मलिन और उदास—प्रतिज्ञा, पृ० ३३।

(४) जेल में आकर दो ही महीने में सुखदा का चित्त कुछ अधिक कोमल हो गया है जैसे पाले में पड़ कर कोई फल अधिक रसीला, स्वादिष्ट, मधुर और मुलायम हो जाता है—कर्मभूमि, पृ० ३४७ ।

(५) आनंद महीनों चिंता के बंधन में पड़े रहने के बाद आज जो छूटा तो छूटे हुए बछड़े की भाँति कुलाचें मारने लगा—कर्मभूमि, पृ० १०४ ।

अलंकारों का यह विधान सुन्दर और मार्मिक तो अवश्य है, परन्तु जब लेखक इन्हीं के फेर में पड़कर अलंकारों की झड़ी-सी लगाने लगता है तब शैली में स्वाभाविक मार्मिकता नहीं रह जाती; ऐसे स्थलों पर प्राय: प्रयासपूर्ण चमत्कार प्रदर्शन प्रधान होता है। प्रेमचंद जी की रचनाओं में कुछ ऐसे स्थल भी हैं—

(१) व्याकुल हो गयी—जैसे दीपक को देखकर पतंग, वह अधीर हो उठी जैसे खाँड़ की गन्ध पाकर चींटी । वह उठी, और द्वारपालों, चौकीदारों की दृष्टि को बचाती हुई राजमहल के बाहर निकल आयी—जैसे वेदना-पूर्ण क्रन्दन सुनकर आँसू निकल आते हैं ।

(२) जैसे सुन्दर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है, और सुन्दर अंगों से चित्र में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आ जाने से झोंपड़े में जान आ गयी; अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गयीं । मुरझाई हुई कली शांता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है । जैसे जेठ-वैसाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर आती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गयी है ।

ऊपर के उदाहरण देखकर कह सकते हैं कि उनका अलंकार विधान—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का आश्रय लेकर विषय को स्पष्ट और सुन्दर कर देना—कहीं-कहीं सुन्दर प्रभावोत्पादक हो जाता है और लेखक की अभीष्टि सिद्धि में सहायक हो जाता है तो कहीं-कहीं पर अति के कारण अस्वाभाविक और कृत्रिम-सा लगने लगता है । हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं इनकी रचनाओं में गद्यकाव्य-सा आनन्द आता है । ऐसे स्थलों पर भावों की सुकुमारता और मधुरता का मिश्रण पाठकों को मुग्ध कर लेता है। उदाहरण के लिए—

गगन-मंडल में चमकते हुए तारागण व्यंग्य-दृष्टि की भाँति हृदय में

चुभते थे । सामने वृक्षों के कुन्ज थे, विनय की स्मृति मूर्ति, श्याम, करुण स्वर की भाँति, कंपित धुएँ की भाँति असंबद्ध, यों निकलती हुई मालूम होती जैसे जैसे किसी संतप्त हृदय से हाय की ध्वनि निकलती है—रंगभूमि, पृ० ४५६ ।

सरलता के साथ-साथ प्रेमचंदजी की शैली में प्रायः सर्वत्र एक प्रवाह रहता है । शिथिलता का अभाव तो ऐसे स्थलों पर रहता ही है, साथ ही सजीवता के कारण एक प्रकार की प्रभावोत्पादक मनोहरता आ जाती है । वाक्य इस शैली के प्रायः छोटे-छोटे हैं, जो 'गम्भीर घाव' करते हैं । एक वाक्य दूसरे से निकल कर इस शैली को और भी गठित कर देता है । भाषा तो ऐसे स्थल की प्रचलित होती ही है । उदाहरण के लिए भारतीय किसान का यह चित्र देखिए—

सीधे-साधे किसान, धन हाथ आते ही धर्म ओर कीर्ति की ओर झुकते हैं; दिव्य समाज की भाँति वे पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते । मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चंद्रमा बली थे, ऊसर में भी दाना छिटक जाता तो कुछ न कुछ पैदा हो ही जाता था । सुजान की खेती में कई साल से कंचन बरस रहा था । तीन बर्ष लगातार ऊख लगती गयी, उधर गुड़ का भाव तेज था, कोई दो-ढाई हजार हाथ में आ गये । बस, चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी । साधु-सन्तों का आदर सत्कार होने लगा, द्वार पर धूनी जलने लगी ।

कानूनगो इलाके में आते, तो सुजान महतो की चौपाल में ठहरते । हल्के के हेड-कांस्टेबिल, थानेदार, शिक्षा-विभाग के अफसर एक न एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता । महतो मारे खुशी के फूले न समाते । धन्य भाग्य ! उनके द्वार पर इतने बड़े-बड़े हाकिम आकर ठहरते हैं । जिन हाकिमों के सामने उसका मुँह न खुलता था, उन्हीं की अब महतो-महतो कहते जबान सूखती थी । कभी-कभी भजन भाव हो जाता । एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा तो गाँव में आसन जमा दिया । गाँजे और चरस की बहार उड़ने लगी । एक ढोलक आयी मँजीरे मँगवाये गये, सत्संग होने लगा । यह सब सुजान के दम का ज़हूरा था । घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कण्ठ तले एक बूँद भी जाने की कसम थी । कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग—'सुजान भगत' शीर्षक कहानी ।

इस अवतरण में जैसे मीठे व्यंग्य की पुट है वैसी ही उनकी रचनाओं में कई स्थानों पर मिलती है । यद्यपि उन्होंने सामाजिक बुराइयों, राजनीतिक

दोषों, धार्मिक पाखंडों, नैतिक कुरीतियों आदि की व्यंग्यात्मक शैली में विवेचना की है तथापि उनका व्यंग्य कभी इतना चुटीला नहीं होता जो किसी को कष्ट पहुँचाये, उसमें सर्वत्र एक मिठास रहती है जो मनोरंजन के साथ-साथ हमारी आँखें भी खोलती है। हास्य और व्यंग्य की मिश्रित पुट इस अवतरण को कैसा मार्मिक बना देती है! वकील साहब अपने खर्चे में कमी करने की चिन्ता में हैं। परेशान होते-होते एक विचार सूझा कि रातिब में कुछ कमी कर दी जाय; इस पर उनकी स्त्री सुभद्रा व्यंग्य करती हुई करती है—

हाँ, यह दूर की सूझी! घोड़े को रातिब दिया ही क्यों जाय? घास काफी है। यही न होगा, कूल्हे पर हड्डियाँ निकल आयँगी। किसी तरह मर-जी-कर कचहरी तक ले ही जायगा। कोई यह तो नहीं कहेगा कि वकील साहब के पास सवारी नहीं है—सेवासदन, पृ० ९६।

उनकी शैली की अन्तिम विशेषता है मुहावरों और सूक्तियों का सुन्दर प्रयोग। उर्दू पर पूर्ण अधिकार होने के कारण मुहावरों की झड़ी-सी लगाना तो प्रेमचंद जी के लिए स्वाभाविक था और उर्दू क्षेत्र में आने वाले लेखकों ने ऐसा किया भी है, पर चार-पाँच वाक्यों के बीच में एक-आध 'मर्मभेदनी और अनुभूतिमूलक' सूक्ति जड़ देना उनकी निजी विशेषता है। इन सूक्तियों में जीवन के सच्चे अनुभवों का सार रहता है और इसलिए इनमें हृदय को छूने की शक्ति है। दो-एक सूक्तियाँ देखिए—

(१) प्रेम हृदयों को मिलाता है, देह पर उसका वश नहीं चलता।

(२) प्रेम हृदय के समस्त सद्भाव का शान्त स्थिर उद्गारहीन समावेश है।

(३) अनुराग, यौवन या रूप या धन से नहीं होता। अनुराग अनुराग से उत्पन्न होता है।

(४) बड़े आदमियों के रोग भी बड़े होते हैं। वह बड़ा आदमी ही क्या, जिसे कोई छोटा रोग हो।

(५) मनुष्य बराबर वालों की हँसी नहीं सह सकता; क्योंकि उनकी हँसी में ईर्ष्या, व्यंग्य और जलन होती है।

ऐसी सूक्तियों से हमारे जीवन का संबंध है और इसीलिए किसी समय इनका उसी प्रकार आदर होगा जिस प्रकार कबीर या तुलसी की सूक्तियों का आज हो रहा है।

प्रेमचंद और आधुनिक स्त्री—समाज

"स्वदेश की अभी तक किसी ने व्याख्या नहीं की, पर नारियों की मान-रक्षा उसका प्रधान अंग है और होना चाहिए।"

—रंगभूमि (पृ० ४८४)

यों तो आज भारतवर्ष वैज्ञानिक उन्नति का प्रश्न छिड़ने पर संसार के अनेक सभ्य देशों से पिछड़ा हुआ समझा जाता है, तथापि भारतीय धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक नियमों का निर्माण जिस वैज्ञानिक ढंग से किया गया था, उसको आज विज्ञान-विशारद भी मानते हैं। प्रेमचंद जी ऐसे लेखक थे जिनको भारतीय आदर्शों पर अभिमान था। उनकी कृतियों का विवेचनात्मक अध्ययन करने पर हमें इस कथन की सत्यता का विशेष ज्ञान हो सकता है।

सामाजिक उन्नति, हमारे भारतीय आदर्श के अनुसार, स्त्री-पुरुष की पारस्परिक सहानुभूति पर अवलंबित रही है। इसी से हमारे यहाँ स्त्री को पुरुष की अर्द्धांगिनी कहा गया है। सामाजिक जीवन की बात तो जाने दीजिए, धार्मिक कृत्यों में स्त्री के बिना पति और पति के बिना स्त्री का कार्य पूर्ण नहीं समझा जाता। महाराज रामचन्द्र ने अपने यज्ञ में, सीता की अनुपस्थिति में, स्वर्ण की प्रतिमा बना कर इस बात को और भी महत्व दे दिया था। कालांतर में भक्ति के उपासकों ने—(संकेत मैथिल-कोकिल विद्यापति और हिंदी के श्रृंगारी कवियों की ओर है)—कृष्ण और राधा की अलौकिक प्रीति को जन-साधारण की दृष्टि में लौकिक बनाकर इस 'नियम' को और भी दृढ़ कर दिया। अस्तु!

हम देखते हैं प्रेमचंद जी की दृष्टि में स्त्री पुरुष की 'सहचरी' है, 'अनुचरी' नहीं। हाँ, अपनी सेवा भक्ति और अनुपम त्याग के कारण, भारतीय नारी स्वयं अपने को पति की अनुचरी समझती है। यही बात 'कायाकल्प' (पृ० ४४४) के नायक की स्त्री भी कहती है—नारी के लिए पुरुष-सेवा से बढ़कर और कोई विलास, भोग और श्रृंगार नहीं है। परन्तु कौन कह सकता है कि नारी का यह त्याग, उसका यह सेवा-भाव ही आज उसके अपमान का कारण नहीं हो रहा है, पुरुष इसको अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगे हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे, स्नेह और आदर के साथ दी जाने वाली सरल प्रकृति के किसानों की भेंट को, आज हम 'हक' के नाम से पुकारते हैं?

प्रेमचंदजी स्त्रियों का बड़ा सम्मान करते थे। उनके जिस मातृत्व पद को—आधुनिक अर्थशास्त्र के युवक-विद्यार्थी वर्तमान आर्थिक और राजनीतिक परिस्थिति के कारण कुल, समाज और राष्ट्र के लिए भार समझते हैं उसे ही वे कितना सम्मान की दृष्टि से देखते थे, यह हमें मिस्टर मेहताके गोविंदी से कहे हुए इन वाक्यों से ज्ञात हो जाता है—

मैं समझता हूं कि नारी केवल माता है और इसके उपरांत वह जो कुछ है; वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है। मातृत्व संसार की सबसे बड़ी साधना, सबसे बड़ी तपस्या, सबसे बड़ा त्याग और सबसे महान विजय है। एक शब्द में मैं उसे लय कहूँगा, जीवन का, व्यक्तित्व का और नारीत्व का भी—गोदान (पृ० ४३३)।

यह सत्य है कि सामाजिक दशा पर आर्थिक और राजनीतिक स्थिति का बड़ा प्रभाव पड़ता है, परन्तु वास्तव में वे अर्थशास्त्रज्ञ इस प्रभाव की ओर ध्यान नहीं देते और न स्त्री के मातृत्व पद की इसलिए अवहेलना ही करते हैं कि संतानोत्पत्ति से हमारी आर्थिक दशा पर कोई प्रभाव पड़ेगा, प्रत्युत इसका प्रधान कारण सुखोपभोग की इच्छामात्र है। यह मेरा निजी मत है अतः विचारणीय है।

परन्तु प्रेमचंदजी की उक्त सम्मति उनके अंतिम उपन्यास 'गोदान' की होने के कारण, संभव है, कुछ महानुभावों को आपत्तिजनक जान पड़े, इसलिए स्त्री-विषयक उनके विचारों की विवेचना करने के लिए हमें उनके प्रधान उपन्यासों का क्रमानुसार अध्ययन करना पड़ेगा। आरम्भ में उनका 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास की स्त्रियों में सुमन का चरित्र ही प्रेमचंद्र की मार्के की कृति है। गार्हस्थ्य जीवन की शोचनीय परिस्थिति और आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसका 'पतन' होता है, परन्तु प्रेमचन्द जी उसका बड़ी सुन्दरता और कुशलता से उद्धार करते हैं। हिंदू समाज चाहे अपने विचारों की संकीर्णता के कारण उसे न अपनाकर अपनी क्षुद्रता प्रदर्शित करता रहे, चाहे हमारे सुधारक नामधारी जीव प्राचीन लकीर के फकीरों के डर से उसे अपनाने में हिचकते रहें, चाहे हमारे तिलकधारी उसे विधवाश्रम में रहने भर को भी स्थान न दें, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस विशालहृदयता के कारण 'चरित्रहीन' के सुप्रसिद्ध बंगाली उपन्यासकार ने अपने नायक की 'होस्टल' की प्रेमिका का धर्म बचाया है, उसी प्रकार प्रेमचन्द जी ने हिंदू समाज की अनेक निर्वासिता, उपेक्षिता तथा अपमानित स्त्रियों का सम्मान किया है।

'प्रेमाश्रम' में परिस्थति दूसरी है। उसमें प्रधान पात्रियों को आर्थिक संकट नहीं है। हाँ, अपने पतियों की ओर से वे धर्म-संकट में पड़ जाती हैं—ज्ञानशंकर लोभी हैं, और अपने स्वजनों का अहित करके भी धन प्राप्त करना चाहते हैं; प्रेमशंकर समुद्रयात्रा से लौटकर शुद्धि सम्बन्धी कार्य को पाखंड समझते हैं। ज्ञानशंकर की स्त्री का इस प्रकार पति का विरोध करना मनुष्यता की दृष्टि से समाज के लिए, सत्य ही, आवश्यक है और प्रेमशंकर की स्त्री तो भारतीय आदर्श नारी की प्रतिमूर्ति है ही, जिसमें त्याग है, सेवाभाव है और पति के इशारे पर न्योछावर हो जाना उसका गौरव है।

'कायाकल्प' के राजा की प्रथम तीन-तीन रानियों से हमें कोई मतलब नहीं, मनोरमा का त्याग, प्रिय स्वामी की आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के लिये अपने सुख, अपने विलास, अपने जीवन-सार, सब का बलिदान कर देना वास्तव में बड़े महत्व का है। इँगलैंड के प्रसिद्ध लेखक चार्ल्स डिकेंस के 'ए टेल आव टू सिटीज' नामक उपन्यास का प्रतिद्वंद्वी नायक सिडनी कार्टन जिस प्रकार अपनी प्रेमिका के पति को बचाने के लिए अपने प्राण दे देता है, उससे मनोरमा का त्याग कहीं बढ़कर माना जायगा।

इसी प्रकार 'गबन' की नायिका भी यद्यपि आरम्भ में धोखा खा जाती है तथापि वह मानिनी हिंदू स्त्री है। उपन्यास का विषय दूसरा होने के कारण प्रेमचन्द जी ने उसके चरित्र की इस विशेषता पर विशेष प्रकाश नहीं डाला, इससे हम भी इसे छोड़ 'रंगभूमि' की रानी जान्हवी की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। भारतीय इतिहास के हिन्दू-सम्राटों के काल में रामायण-महाभारत काल में तो कम, राजपूतों के समय में बहुत ही अधिक—हमने देश, धर्म, सम्मान आदि के लिए अपने पुत्रों का बलिदान करती हुई अनेक माताएँ देखी हैं। आधुनिक युग में वैसी ही वीर माता की सृष्टि करके प्रेमचंद जी ने उस कमी को दूर किया है जो वर्तमान-काल में देश के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हुए भी, हमारे उपन्यासों में नहीं मिलती। अपने पुत्र

को हँसते-हँसते बलिदान कर देने का जो संदेश रानी जान्हवी ने हमारी माताओं और बहनों को दिया है, राजपूत-काल का अध्ययन करने वाले इसे भली भांति जानते होंगे ।

यह अंतिम बात अवसर अथवा परिस्थति-विशेष के लिए ही आवश्यक होती है; मान-सम्मान, धर्म और देश के लिए प्राण दे देना मनुष्य मात्र की सजीवता का लक्षण होते हुए भी, स्त्रियों का यही प्रधान कर्तव्य नहीं है। सामाजिक जीवन में स्त्री का पति के साथ व्यवहार ही मुख्य धर्म समझा जाता है। ऊपर पति के प्रति भारतीय स्त्री के जिस व्यवहार की ओर संकेत किया गया है, उसमें आज परिवर्तन हो रहा है; स्त्रियाँ आज अपनी 'स्वतंत्रता' के लिए प्रयत्नशील हैं। दूसरे शब्दों में, आज प्राचीन भारतीय और आधुनिक पाश्चात्य आदर्शों का संघर्ष हो रहा है। विचार से देखा जाय तो हमारी सबसे प्रधान सामाजिक समस्या यही है। प्रेमचंद जी ने इसे बहुत अच्छी तरह समझा था। उनका 'गोदान' वास्तव में ऐसा रंगमंच है जहाँ इन दोनों आदर्शों से प्रभावित स्त्रियों का संघर्ष दिखाया गया है। मिस्टर खन्ना की स्त्री हमारी भारतीय नारी है जो पति से तिरस्कृत होकर भी पति-सेवा और पुत्र-प्रेम को जीवन का एक मात्र उद्देश्य समझती जाती है; दूसरी ओर मालती है जिसे हम आधुनिक पाश्चात्य रंग में रंगी फुदकती चिड़िया के रूप में पाते हैं। हमारे मिस्टर खन्ना-सरीखे आधुनिक शिक्षित और धनी-मानी सज्जन अपनी बीबी को 'दाल-भात' बताकर 'मिठाई' चाहते हैं और रंग-रेलियों में मस्त मालती-सरीखी 'कुमारियों' के तलुवे चाटने में ही जीवन की सफलता समझते हैं। फलतः अपनी स्त्री का तिरस्कार करके उन्हें जैसी मानसिक अशांति होती है, उनकी दशा जैसी दयनीय हो जाती है, उसका परिचय हमें खन्ना के चरित्र से मिल जाता है।

अशांति और निराशा-प्रदर्शन-संबंधी इस कार्य में, सम्भव है, किसी को ा रों की संकीर्णता दिखायी दे, परन्तु स्त्री-स्वतंत्रता-विषयक मिस्टर मेहता

का व्याख्यान उस सत्य और सूक्ष्म विवेचना का परिचायक है जो भारतीय सामाजिक जीवन को सुखद और उन्नत बनाने तथा आधुनिक प्रचलित सामाजिक दोषों को दूर करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अपवाद-स्वरूप धनियों के—जिनकी संख्या भारत में एक प्रतिशत से अधिक नहीं है—एक-आध विवाह को छोड़कर हमें तो यह विदेशी बीज भारत की उर्वरा भूमि में फलता-फूलता नहीं दिखाई देता। यदि वैज्ञानिक ढंग से इस कार्य में कोई सफलता भी प्राप्त कर लेगा तो उसमें पाश्चात्य कृत्रिमता ही मिलेगी, भारतीय स्वाभाविकता नहीं।

प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रेमचंद जी आधुनिक स्त्री-शिक्षा के विरोधी हैं। इसका सीधा-सादा उत्तर यही है कि स्त्री-शिक्षा का हमारा उद्देश्य स्त्री को उसका कर्तव्य समझाना और पति के कार्य में सहायता करने योग्य बनाना मात्र रहा है। प्रेमचंदजी इसी के पक्षपाती हैं। आधुनिक शिक्षित नवयुवतियों में जैसी लज्जाहीन उद्दंडता या स्वच्छंदता दिखायी देती है, उसे वे आदर की दृष्टि से नहीं देखते। ध्यान रहे कि स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में बड़ा सम्मान था, फिर भी मिस मालती-सरीखी शिक्षित नव-युवतियाँ और उनका वाह्य आडम्बर-पूर्ण शृंगार उन्हें पसंद नहीं था। मिस मालती का चित्र देखिए :—

दूसरी महिला जो ऊँची एड़ी का जूता पहने हुए हैं और जिनकी मुख छवि पर हँसी फूटी पड़ती है, मिस मालती हैं। आप इंगलैंड से डाक्टरी पढ़ आई हैं अब प्रेक्टिस करती हैं। ताल्लुकेदारों के महलों में उनका बहुत प्रवेश हैं आप नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। गात कोमल, चपलता कूट-कूट कर भरी हुई, झिझक या संकोच का नाम नहीं, मेकअप में प्रवीण, बला की हाजिर-जवाब, पुरुष-मनोविज्ञान की अच्छी जानकर, आमोद-प्रमोद को जीवन का तत्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण, जहाँ आत्मा का स्थान है वहाँ हाव-भाव, मनोद्‌गारों पर कठोर निग्रह, जिनमें इच्छा या अभिलाषा का लोप-सा हो गया है—गोदान (पृ० ८९-९०)।

यह है हमारी शिक्षिता, अविवाहिता, नवयुवती का चित्र, आधुनिक स्त्री स्वतंत्रता-संबंधी आंदोलन के पक्षपाती पुरुष भी बहुत हैं और स्त्रियाँ भी। अपने हृदय पर हाथ रखकर वे स्वयं सोचें—केवल मौखिक उपदेशों और व्याख्यानों से काम नहीं चलेगा—कि क्या अपनी पुत्री को उक्त मिस मालती बनाकर अपने गृहस्थ-जीवन में उनको सुख मिल सकेगा।

आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा का जो सबसे भयंकर प्रभाव हमारे नवयुवकों और नवयुवतियों पर पड़ा है, वह हमारी सम्मति में यही है कि उन्होंने संभवतः भौतिकता को ही प्रधानता देकर गंभीर अध्ययन, मौलिक विवेचन और सरल आचरण संबंधी प्राचीन भारतीय आदर्श को सर्वथा भुला दिया है। फलतः हमारे पढ़े-लिखे युवकों को फैशनेबुल लेडियाँ और शिक्षिता अविवाहित नवयुवतियों को फैशनेबुल जेंटिलमैन ही पसंद आते हैं। यदि इस 'पसंद' का कारण समता, प्रेम, भक्ति, त्याग आदि की नींव होती तो बड़ी सुंदर बात थी, परंतु यदि इसका कारण क्षणिक भावावेश-सा अज्ञान ही हो, तब हम उसकी प्रशंसा नहीं करते। प्रेमचंद जी के विचार भी यही हैं। 'गोदान' के मिस्टर खन्ना धनी हैं, सज्जन, शिक्षित, उदार, अधिकारी—जनता की दृष्टि में सभी कुछ—हैं। परंतु उनको अपनी सती-साध्वी स्त्री गोविंदी से प्रेम नहीं है। हाँ, उनका हृदयोद्यान मिस मालती के कृत्रिम कलरव से गूँज उठता है। प्रेमचन्दजी की दृष्टि में मिस्टर खन्ना का इस प्रकार अपनी पत्नी से विश्वासघात करना सरासर मूर्खता है—घर आये नाग न पूजिए, बाँबी पूजन जाय-सा है। सारी परिस्थिति की आलोचना मिस्टर मेहता के मुँह से कराते हुये वे कहते हैं—

खन्ना अभागे हैं जो हीरा पाकर कांच का टुकड़ा समझ रहे हैं। सोचिए, (उनकी स्त्री में) कितना त्याग है और उसके साथ ही (पति से) कितना प्रेम है! खन्ना के कामासक्त मन में शायद उनके लिए रत्ती भर स्थान भी नहीं है, लेकिन आज खन्ना पर कोई आफत आ जाय, तो वह अपने को उन पर न्यौछावर कर देंगी। खन्ना आज अंधे या कोढ़ी हो जायँ तो भी उसकी वफादारी

में फर्क न आयगा। अभी खन्ना उसकी कद्र नहीं कर रहे हैं, मगर आप देखेंगे, यही खन्ना एक दिन उनके चरण धोकर पियेंगे। मैं ऐसी बीवी नहीं चाहता जिससे मैं आइंस्टीन के सिद्धांत पर बहस कर सकूँ, या जो मेरी रचनाओं के प्रूफ देखा करे। मैं ऐसी औरत चाहता हूँ, जो मेरे जीवन को पवित्र और उज्ज्वल बना दे, अपने प्रेम और त्याग से—गोदान (पृ० २४४)।

ऊपर विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि प्रेमचंद जी स्त्रियों के लिए शिक्षा की आवश्यकता समझते थे, परंतु सुप्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक जान रस्किन की तरह उनकी स्त्री शिक्षा का उद्देश्य भी स्त्रियों को दायित्व का महत्व समझाना था, फैशन अथवा विलास-प्रियता की वृद्धि करना नहीं, जिसे आज सभ्यता के अन्तर्गत बतलाया जाता है। पाश्चात्य देशों की तरह स्त्रियों से वे पैसा नहीं पैदा कराना चाहते थे। इस बात का प्रमाण 'काया-कल्प' में उस स्थान पर मिलता है जब उसका नायक अपनी स्त्री के लेख के परिश्रमिक-संबंधी धन से लाये हुए कंबल को ओढ़ने की अपेक्षा, सर्दी में ठिठुरते हुए रात काट देता है। कुछ लोग इसे लकीर का फकीर-सा बतलावेंगे, परंतु वस्तुतः इसका कारण यह है कि भारतीय समाज में स्त्री के भरण-पोषण का अधिकार पुरुष को है। स्त्री यदि स्वयं इसकी चिंता करेगी, स्वयं पैसा पैदा करने का प्रयत्न करेगी, तो भारतीय आदर्श के विपरीत, यह निश्चित है कि पति से स्वाधीन होने का विचार उसमें पैदा होगा, जो क्रमशः किसी न किसी समय में, पारस्परिक विरोध का रूप धारण करेगा। इसका परिणाम अन्ततः कलह है। सम्भव है, साथ-साथ धन कमानेवाले दम्पति में प्रेम, सहानुभूति और त्याग के सात्विक भाव भी हों, पर ऐसा प्रायः बहुत कम होता है। कारण दिन भर के हारे-थके पुरुष की सारी थकावट घर की स्वामिनी की एक मधुर मुस्कान से तो दूर हो सकती है पर कमाऊ स्त्री के थके-माँदे प्यार से नहीं। एक शब्द में, इसका आशय यही है कि प्रेमचंद जी स्त्री की शिक्षा के पक्षपाती होते हुए भी उसे घर की स्वामिनी बनाना चाहते हैं, बाहर के

सार्वजनिक जीवन का ऐसा प्रतिद्वन्द्वी नहीं जिसको, हम जानते हैं कि कारण विशेष से सदैव 'प्रिफरेंस' दिया जाता है।

रह गयी स्वतंत्रता-संबंधी आधुनिक स्त्री-आंदोलन की बात। प्रेमचंद जी ने, जान पड़ता है, इस महत्वपूर्ण समस्या का गम्भीर अध्ययन किया था। उनकी सम्मति है कि स्त्रियाँ स्वतंत्रता के लिए जो आंदोलन कर रही हैं, वह केवल इसलिए कि पुरुष समाज उसका आदर नहीं करना चाहता, उसमें गुण ही नहीं है और न है गुण-ग्राहकता। 'गोदान' की मिसेज खन्ना के मुंह से यही बात सुनिए—

वास्तव में पुरुष का कर्तव्य वह भूला हुआ है कि रानी श्रेष्ठ है और सारी जिम्मेदारी उसी पर है। श्रेष्ठ पुरुष है और उसी पर गृहस्थी का सारा भार है। रानी में सेवा, संयम और कर्तव्य सब कुछ वही पैदा कर सकता है। अगर उसमें इन बातों का अभाव है तो रानी में भी रहेगा। नारियों में आज जो विद्रोह है, इसका कारण पुरुषों का इन गुणों से शून्य हो जाता है।

यह विचार अधिकांश में ठीक ही है। भौतिकवाद संबंधी पाश्चात्य आदर्श को जीवन का चरम लक्ष्य समझने वाले नवयुवक स्त्रियों को केवल मनोरंजन का ऐसा मुख्य साधन समझते हैं जो देवी एवं मानुषी सामाजिक नियमों की सहायता से उन्हें उपलब्ध है। युवावस्था के आवेग-पूर्ण आवेश में वे गार्हस्थ्य जीवन की शांति और सामाजिक उन्नति का विचार न कर नव-युवतियों के मुख्यतः वाह्य रूप और आकर्षण पर मुग्ध हो जाते हैं। परिणाम-स्वरूप, रूप का वाह्य आकर्षण उनके आवेशपूर्ण उन्माद को उत्तेजित तो अवश्य करता है परन्तु तुष्ट नहीं। उधर मानव-जीवन के समस्त संघर्ष का मूल कारण पूर्ण सुख प्राप्ति-संबंधी उद्योग है। फल यह होता है कि संतुष्ट न होकर अंत में उनका जीवन अशांतिपूर्ण हो जाता है। इस असंतोष और अशांति को दूर करके सुख-संतोष प्राप्त करना ही प्रेमचंद के स्त्री-समाज का प्रधान उद्देश्य है। इसका उपाय उन्होंने मिस्टर मेहता के व्याख्यान द्वारा (गोदान में) बता

दिया है—नवयुवतियों की शंकाओं का समाधान भी उन्होंने कर दिया है। अपने सामाजिक-जीवन गृहस्थ में जिस शांति और सुख-संतोष के लिए मनुष्य लालायित और प्रयत्नशील रहता है वही प्राप्त करना उन्होंने अपना जीवनादर्श बना लिया है—या समझते हों— उन्हें मिस्टर मेहता के उस व्याख्यान का सहृदयतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। स्त्रियों की आधुनिक समस्या भी, प्रत्येक प्रश्न को राजनीतिक दृष्टि से देखने वाले जिसे आंदोलन के नाम से पुकारते हैं—उससे स्पष्ट हो जाती है और उसके पक्षपातियों की शंकाओं का समाधान करने में भी हम सफल हो सकते हैं।

इस संबंध में एक बात वे पुरुषों से भी पूछते हैं। हम क्यों ऐसा समझते हैं कि स्त्रियों का जीवन केवल भोग विलास के लिए ही है? क्या उसका हृदय ऊँचे और पवित्र भावों से शून्य होता है? वास्तव में हमीं ने उन्हें कामिनी रमणी, सुंदरी आदि विलास सूचक नाम देकर वास्तविक वीरता, त्याग और उत्सर्ग से शून्य कर दिया है। अगर सभी पुरुष वासनाप्रिय नहीं होते तो सभी स्त्रियाँ वासनाप्रिय क्यों होने लगीं? (कायाकल्प पृ० ४३६) सत्य ही इन बातों पर उदारतापूर्वक विचार करने से ही समाजिक समस्या हल हो सकती है। हमारे सुधारक कोरी लेक्चरबाजी न करके समस्या अथवा आंदोलन के मूल कारणों की, प्रेमचंद की तरह, विवेचना करेंगे, तभी उन्हें सफलता मिलेगी।

हिंदी उपन्यास का विकास

प्रथम विकास—(सन् १८५० से १९०० तक)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से हिंदी में आधुनिक ढंग के उपन्यास लिखने का सूत्रपात हुआ। तत्कालीन लेखकों ने एक ओर तो उपन्यासों से समृद्ध बंगला-साहित्य से परिचय प्राप्त किया और दूसरी ओर अँगरेजी से। इन भाषाओं के उपन्यास मनोरंजन की दृष्टि से तो उत्तम थे ही, कला के नाते भी श्रेष्ठ समझे जाते थे। इससे परिचय प्राप्त करके हिंदी लेखकों का एक दल

तो इन भाषाओं की रचनाओं का अनुवाद करने में लग गया और दूसरा उन्हीं के ढङ्ग पर मौलिक रचनाएँ तैयार करने में। पंडित राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा' 'सावित्री', और 'मृण्मयी', बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री ने 'इला' (१८९५), 'प्रमीला' (१८९६), 'जया' और 'मधुमालती' (१८९८), तथा बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'चित्तौरचातकी' नामक उपन्यासों का बंगला से अनुवाद किया। गदाधरसिंह-कृत 'वंग विजेता' और 'दुर्गेशनंदिनी' के अनुवाद भी अच्छे हैं। पंडित प्रतापनारायण मिश्र तथा उनके सहयोगी दो-एक अन्य लेखक भी यही कार्य कर रहे थे। बंगला के अतिरिक्त उर्दू और अंगरेजी से भी कुछ उपन्यासों के अनुवाद इस समय के लेखकों ने किये जिनमें बाबू रामकृष्ण वर्मा के 'ठगवृत्तांतमाला (१८२९), पुलिस वृत्तांत माला, अकबर (१८९०) और 'अमलावृत्तांत' माला' (१८९४) उल्लेखनीय हैं। संस्कृत की कादम्बरी का अनुवाद भी बाबू गदाधरसिंह ने बंगला संस्करण के आधार पर किया था।

भारतेन्दु-कालीन लेखकों का दूसरा उपन्यास-प्रेमी दल विभिन्न भाषीय मौलिक कृतियों तथा हिंदी में अनूदित उनके संस्करणों का अध्ययन करके उसी ढङ्ग की मौलिक रचनाएँ प्रस्तुत करने को प्रवृत्त हुआ। इस क्षेत्र में काम करने वालों में 'परीक्षागुरु' नामक उपन्यास के लेखक श्रीनिवासदास तथा 'नूतनब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' के लेखक बालकृष्ण भट्ट का नाम उल्लेखनीय है।

इन लेखकों की अनुवादित और मौलिक रचनाओं से इतना लाभ अवश्य हुआ कि आगे के हिंदी लेखकों को समकालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा अन्यान्य सामयिक समस्याओं पर परोक्ष-रूप से विचार करने का एक मनोरंजक कलापूर्ण ढंग ज्ञात हो गया, जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। बंगला और अंगरेजी उपन्यास-साहित्य के अध्ययन में स्वतंत्र और मौलिक रचनाएं प्रस्तुत करने की प्रेरणा भी मिली।

द्वितीय विकास—(सन् १९०० से १९१५ तक)

हिंदी उपन्यासों के विकास का द्वितीय युग बाबू गोपालराम गहमरी के बंगला उपन्यासों के अनुवादों से होता है। इन्होंने अपना यह कार्य सन् १९०० से पहले ही आरम्भ कर दिया था, उस समय इन के 'चतुर चंचला' (१८९३), 'भानुमती' (१८९४) और 'नये बाबू' (१८९४) आदि अनुवादित उपन्यास सामने आये थे। इस नवीन युग में इन्होंने जो अनुवाद सामने रखे, उनमें 'बड़ा भाई' (१९००), 'देवरानी जेठानी' (१९०१), 'दो बहिनें' (१९०२), 'तीन पतोहू' (१९०४), 'सास पतोहू' आदि उल्लेखनीय हैं।

गहमरी जी के अतिरिक्त श्री उदितनारायण, पंडित ईश्वरी प्रसाद और पण्डित रूपनारायण पाण्डेय ने बँगला के अनेक उपन्यास अनुवादित करके हिन्दी पाठकों के सामने रखे। यहाँ तक कि सर्व श्री वंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्रदत्त चण्डीशरणसेन, शरच्चन्द्र, चारुचन्द और कवीन्द्र रवीन्द्र आदि बँगला के अनेक प्रमुख उपन्यास-लेखकों की सुन्दर रचनाएँ हिन्दी में प्राप्त हो गयीं।

बँगला के अतिरिक्त उर्दू, मराठी, अँगरेजी आदि अनेक देशी-विदेशी भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद करने की ओर भी हिंदी-लेखकों का ध्यान गया। ऐसे अनुवादकों में बाबू गङ्गाप्रसाद गुप्त ने उर्दू से 'पूना में हलचल' और बाबू रामचन्द्र वर्मा ने मराठी से 'छत्रसाल' का अनुवाद किया। गुजराती की कई रचनाएँ भी हिन्दी में अनूदित की गयीं और अंगरेजी के अनुवादित उपन्यासों में 'लैला', 'लन्दन-रहस्य' तथा 'टामकाका की कुटिया' के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस युग के मौलिक उपन्यास-लेखकों में देवकीनन्दन खत्री, किशोरी लाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता और व्रजनन्दन सहाय के नाम प्रसिद्ध हैं। खत्री जी ने 'नरेन्द्रमोहिनी', 'कुसुमकुमारी', 'वीरेन्द्रवीर', 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' आदि तिलस्मी और ऐयारी धटना-प्रधान उपन्यास लिख, साधारण मनोवृत्ति के बहुत से पाठक पैदाकर, काफी नाम और

पैसा कमाया। गोस्वामी जी का कार्य साहित्यिक दृष्टि से खत्रीजी से श्रेष्ठ है। 'तारा', 'चपला', 'तरुण तपस्विनी', 'रजिया बेगम', 'लीलावती', 'लवंगलता', 'हृदयहारिणी', 'लखनऊ की कब्र', इत्यादि इनके लगभग ६५ उपन्यासों में सजीव सामाजिक चित्र तो मिलते ही हैं, वर्णन भी चमत्कारपूर्ण और चरित्र-चित्रण स्वाभाविकता लिए हुए है। इनके कुछ उपन्यास ऐतिहासिक भी हैं। उपाध्यायजी ने भाषा के नमूने दिखाने के लिए 'ठेठ हिन्दी का ठाठ', 'अधखिला फूल' और 'वेनिस का बाँका' नाम के उपन्यास लिखे। मेहता जी की रचनाएँ 'धूर्तरसिकलाल', 'हिंदू गृहस्थ', 'आदर्श दंपत्ति', 'बिगड़े का सुधार', 'आदर्श हिंदू' आदि हैं और सहाय जी की 'सौंदर्योपासक' और 'राधा कांत'।

तृतीय विकास (सन् १९१५ से १९३६ तक)

हिंदी उपन्यासों के तृतीय विकासकाल की विशेषता यह है कि अनुवाद रूप में दूसरी भाषाओं का कूड़ा-करकट हिंदी में जमा करने की प्रवृत्ति का प्रायः अन्त हो गया। प्रथम और द्वितीय काल में तो अनुवादक जो उपन्यास पढ़ते या पा जाते थे उसी का उल्था हिंदी वालों के सामने रखना वे अपना कर्तव्य समझते रहे; परन्तु इस काल में अंगरेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, जापानी आदि विदेशी तथा बँगला, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं के प्रायः श्रेष्ठ उपन्यासों के ही अनुवाद हुए। सीधे अनुवादों के अतिरिक्त इन भाषाओं के उपन्यासों के आधार पर कुछ पुस्तकें स्वतंत्ररूप से भी लिखी गयीं। इस सम्बन्ध में इतना कह देना आवश्यक है कि बम्बई के "ग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय" ने 'शरत-साहित्य' के नाम से बँगला के सुप्रसिद्ध उपन्यास लेखक शरच्चन्द की समस्त रचनाओं का जिस प्रकार हिन्दी में प्रचार किया है, देशी-विदेशी अन्य सुप्रसिद्ध उपन्यासकारों की रचनाओं को उसी प्रकार हिंदी-संसार के सामने रखने से अनुवादकों और प्रकाशकों का कार्य सराहनीय समझा जायगा।

इस युग में मौलिक उपन्यासों की संख्या अनुवादों से अधिक है। वस्तुतः भाषा को अनुवादों पर नहीं, अपनी मौलिक रचनाओं पर ही गर्व होता है।

प्रेमचन्द इस युग के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रङ्गभूमि', 'गबन', 'कर्मभूमि', 'गोदान' इत्यादि उनके उपन्यास हिन्दी साहित्य की अमूल्य और स्थायी निधि हैं। इनमें भारतीय समाज के निम्न और मध्यम वर्गों की सामाजिक जीवन-कथा के साथ-साथ राजनीतिक चेतना के विकास का जो क्रमबद्ध इतिहास मिलता है, वह बड़े महत्व का है। बाबू जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल और 'तितली', विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक के 'माँ' और 'भिखारिणी', प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'बिदा', 'विकास' और 'विजय', भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा', चतुरसेन शास्त्री के 'परख' और 'हृदय की प्यास', जैनेन्द्र-कुमार के 'तपोभूमि' और 'सुनीता', राजा राधिकारमणसिंह के 'रामरहीम', 'सूरदास' और 'टूटा तारा', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार तुम्हारी आँखों में', 'बुधुआ की बेटी' इत्यादि उपन्यास इस युग की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। मनोरंजन और कला, दोनों दृष्टियों से इनमें अधिकांश रच-नाएँ सफल हैं और हिंदी उपन्यासों के विकास का परिचय इनके बिना अधूरा ही समझा जायगा।

प्रायः इन सभी कृतियों में सामाजिक समस्याओं पर ही विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। वर्णन और प्रदर्शन की दृष्टि से ये रचनाएँ तीन वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं। प्रथम वर्ग में वे रचनाएँ आती हैं जिनके लेखकों ने पर्याप्त संयम से काम लिया है और यथार्थवाद के नाम पर सामाजिक कुरीतियों के अरुचिकर चित्र स्पष्ट रूप से पाठकों के सामने नहीं रखे हैं—केवल संकेत रूप से ऐसी स्पष्ट रेखाएँ-सी खींच दी हैं कि चतुर पाठक लेखक का तात्पर्य सरलता से समझ लेता है। 'कंकाल', 'तितली', 'माँ', 'भिखारिणी', 'विदा', 'परख', 'सुनीता', ,सूरदास', 'चित्रलेखा' आदि कृतियाँ इस वर्ग की हैं। दूसरे वर्ग में वे रचनाएं आती हैं जिनके रचयिताओं ने कुरीतियों, पाखंडों और कुसंस्कारों के काले काले निगेटिव सामने रखे हैं जिनके अनाकर्षक और भयावने होने के कारण पाठक उनमें रस नहीं ले पाता और इस प्रकार उनके पठन-पाठन से पड़नेवाले कुप्रभाव से बच जाता है। परंतु

उसके कभी कभी उत्सुकता और जिज्ञासा इतनी बढ़ती है कि पर्दे के पीछे की बात जानने के लिए पाठक अपनी दृष्टि को अधिक पैनी कर लेने की चाह करता है। 'भिखारिणी' और 'विजय' इसी ढंग की कृतियाँ हैं।

अंतिम वर्ग में उग्र जी के अधिकांश उपन्यास हैं जिनकी यथार्थता का ऐसा स्पष्ट चित्र खींचा गया है जो प्रभावोत्पादक होते हुए भी सुरुचिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। फलस्वरूप उग्र जी की रचनाएँ लोकप्रिय तो खूब हुईं, तथापि उनका प्रवेश पाठकों के उस क्षेत्र में अधिक नहीं हो सका जो शालीनता और सुरुचि का समर्थक रहा है। घर के बड़े-बूढ़ों ने यदि उनकी रचनाएँ पढ़ीं तो समाप्त करके आवरण पर कागज की जिल्द चढ़ाकर उन्हें इस तरह बंद करके रख दिया कि लड़के-लड़कियों की निगाह कहीं उन पर न पड़ जाय और नवयुवक-नवयुवतियों ने यदि उन्हें प्राप्त कर लिया तो कोर्स की किताबों के बीच में रख कर इस तरह बुजुर्गों से बचाकर पढ़ा कि कहीं वे टोक न दें—ऐसी किताबें पढ़ी जा रही हैं ! क्यों !!

इस युग के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में केवल बाबू वृंदावन लाल वर्मा का नाम ही आदर के साथ लिया जाता है। 'गढ़कुंडार' और 'विराटा की पद्मिनी' उनके पूर्व प्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनका पर्याप्त आदर हो चुका है। इधर इन्होंने 'झाँसी की रानी' नामक नयी रचना प्रस्तुत की है जो बहुत लोकप्रिय हुई है। इस दिशा में 'प्रसाद' जी ने भी प्रयास किया था, परंतु हिंदी-जगत के दुर्भाग्य से उनका 'इरावती' उपन्यास अधूरा ही रह गया।

इस युग के ये मौलिक उपन्यास प्रायः उन सभी विशेषताओं से युक्त हैं जिनके लिए विदेशी रचनाएँ श्रेष्ठ समझी जाती हैं। इन उपन्यासों ने हिंदी के पाठकों की रुचि का परिष्कार किया है। कौतूहल-वर्धक कोरी घटना-विचित्रता से युक्त ऐयारी और जासूसी उपन्यासों के स्थान पर हिन्दी पाठकों का एक वर्ग सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक समस्याओं पर लक्ष्य

रखनेवाले इन उपन्यासों का प्रेमी हो गया है। चरित्र-विवेचना, कथोपकथन की स्वाभाविकता और प्रभावोत्पादकता, अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति और अंतर्भावों की मनोवैज्ञानिक व्याख्या आदि विशेषताओं से युक्त होने के कारण हिंदी के उक्त उपन्यासों में अनेक विश्व-उपन्यास-साहित्य में ऊँचा स्थान पा सकते हैं।

आधुनिक काल (सन् १९३६ से)

पिछले दस-पंद्रह वर्षों में जिन नये-नये लेखकों ने इस क्षेत्र में सुंदर काम किया है, उनमें सर्वश्री यशपाल, अमृतलाल नागर, रामेश्वर शुक्ल अंचल, गंगाप्रसाद मिश्र आदि का नाम उल्लेखनीय है। प्रत्येक की चार-चार पाँच-पाँच रचनाएँ अब तक सामने आ चुकी हैं जिनसे उनकी विचारधारा के विकास-क्रम का परिचय मिलता है। इनके अतिरिक्त और भी कई लेखक एक-एक दो-दो उपन्यास लिखकर इस क्षेत्र में प्रवेश पाने के अधिकारी हो चुके हैं। इनकी लगन और उमंग के साथ-साथ भारतीय जीवन को नयी परिस्थिति में नये दृष्टिकोण से परखने की क्षमता देखकर बड़ा संतोष होता है, परंतु खेद इस बात का है कि इनमें से अधिकांश के लिए स्त्री-पुरुष के नैसर्गिक आकर्षण के प्रति ऐसी उन्मत्तकारिणी रुचि है जो स्वस्थ और संयमित प्रेम या संबंध की कदाचित् कल्पना के आनंद से भी उन्हें वंचित रखती है। न तो किसी उन्नतिशील राष्ट्र की भावी विभूतियों के हाथ में ऐसी अस्वास्थ्यकर कृतियाँ देना ही कल्याणकारी समझा जा सकता है और न उसके कलाकारों के लिए कोरी रंगीनी में रँगा रहना ही शोभा देता है। काल का चक्र वसंत की मादकता सबमें भरता है; परंतु सभी समय उसका ही स्वप्न देखना प्राकृतिक दृष्टि से भी अस्वाभाविक ही समझा जायगा। सारांश यह कि हमारे उपन्यास लेखकों में सहृदयता और कल्पना की प्रचुरता के साथ वह अंतर्दृष्टि भी विद्यमान है जो उपन्यास को सफल बनाने के लिए अपेक्षित है, तथापि हमारे अधिकांश नवोदित उपन्यास लेखक कल्पना के सहारे पूर्व कृतियों में वर्णित

समस्याओं को ही हेर-फेर के साथ अपनाकर प्रेम की उन्हीं वृत्तियों और दशाओं के भद्दे चित्र, स्वाभाविकता और यथार्थवाद के नाम पर खींच र जिसके लिए हिंदी-कविता किसी समय बदनाम हो चुकी है। पैनी अंतर्दृ वि स्वतंत्र उपयोग की सद्भावना के अभाव के साथ-साथ समकालीन समस्य के स्वतंत्र अध्ययन और मनन की भी हमारे नवोदित उपन्यास लेखकों में है। उन्हें ध्यान रखना होगा कि केवल महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्या अ लेने से ही उपन्यास सफल या लोकप्रिय नहीं हो जाता और आज हिंद शिक्षित पाठक देशी-विदेशी लेखकों के अनुकरण मात्र—जूठन—से सन्तुष्ट नहीं हो सकते। अतः नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर ही उन्हें प्रसि प्राप्त हो सकती है।

॥ समाप्त ॥

